कर्मसिद्धान्त एवं व्यक्तिस्वातन्त्र्य

राष्ट्रिय संगोष्ठी

24–26 मार्च, 1993

सौजन्य :—

भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्
नई दिल्ली

शोध पत्र संकलन

डॉ0 जयदेव वेदालंकार
सम्पादक

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

कर्मसिद्धान्त एवं व्यक्तिस्वातन्त्र्य

(राष्ट्रिय सेमीनार)

सौजन्य :—

भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्

नई दिल्ली

शोध पत्र संकलन

सम्पादक :

डा० जयदेव वेदालंकार

न्यायाचार्य, पी-एच०डी०, डी०लिट्०

सीनियर प्रोफेसर, दर्शन विभाग

निदेशक, राष्ट्रिय संगोष्ठी

गुरुकुल पत्रिका विशेषांक

श्रावण—चैत्र, २०५१—५२	वर्ष—४७	संयुक्तांक—जौलाई-मार्च १९९४—९५

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

मुद्रक:- किरण प्रिंटिंग प्रैस, निकट गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी, हरिद्वार (फोन : ४२५६७५)

विषय सूची

संस्कृत विभाग

ENGLISH SECIION

राष्ट्रिय सेमिनार

24–26 मार्च 93

(आई. सी. पी. आर. के सौजन्य से)

संयोजक–विजयपाल शास्त्री राष्ट्रिय सेमीनार

एक रिपोर्ट

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के मुख्य प्रांगण में भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद् नई दिल्ली के सौजन्य से २४ से २६ मार्च ९३ तक "कर्मसिद्धान्त एवं व्यक्ति स्वातन्त्र्य विषय पर दर्शन विभाग के तत्त्वावधान में एक राष्ट्रिय सेमिनार का आयोजन किया गया जिसका निर्देशकत्व प्राच्य विद्या संकाय के अध्यक्ष प्रोफेसर डा०– जयदेव वेदालंकार ने किया।

राष्ट्रिय सेमीनार का उद्घाटन समारोह २४ मार्च ९३ को मध्याह्नोत्तर २ ३० बजे सीनेट हाल में विश्वविद्यालय के कुलपति प्रो० सुभाष विद्यालंकार की अध्यक्षता में भव्य परिवेश में सम्पन्न हुआ। आई० सी० पी० आर० नई दिल्ली ने इस सेमीनार के आयोजन हेतु तीस हजार रुपये की राशि अनुदान में दी थी। अपने अध्यक्षीय भाषण में कुलपति ने आई. सी. पी आर का धन्यवाद किया तथा बाहर से आये हुए प्रतिष्ठित विद्वानों का स्वागत किया।

इस सेमीनार में निर्धन निकेतन हरिद्वार के संरक्षक वीतराग, तपस्वी पूज्यपाद स्वामी ऋषि केशवानन्द जी महाराज मुख्य अतिथि के रूप में आमन्त्रित किये गये। मुख्य अतिथि ने इस सेमीनार का विधिवत् उद्घाटन किया और इसकी सफलता के लिये आशीर्वाद दिया। मुख्य अतिथि के अतिरिक्त गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के प्रो–वाइस चान्सलर एवं आचार्य प्रो० रामप्रसाद वेदालंकार ने भी सभा को सम्बोधित किया तथा समारोह की सफलता की कामना की।

इस राष्ट्रिय सेमीनार में दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली, कुन्द-कुन्द भारती नई दिल्ली, जबलपुर विश्वविद्यालय, पंजाब विश्वविद्यालय चण्डीगढ बी० एच० यू० वाराणसी, तथा गढवाल विश्वविद्यालय श्रीनगर से आये अनेक विद्वान् प्रतिनिधियो ने तथा बीस स्थानीय प्रतिनिधियों ने भाग लेकर अपने शोधपत्रों का वाचन किया तथा कर्मसिद्धान्त सम्बन्धी समस्याओ पर बहस की

बाहर से आये विद्वान् प्रतिनिधियो मे दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली से दर्शन विभाग के प्रोफेसर डा० एस० आर० भट्ट, डा० एच० एस० प्रसाद, डा० वेद प्रकाश शर्मा और डा० के. के. मित्तल उपस्थित थे जिनके सारगर्भित एवं ओजस्वी व्याख्यानो की श्रोताओ ने पर्याप्त सराहना की। इसके अतिरिक्त कुन्द-कुन्द भारती नई दिल्ली के डाइरैक्टर डा० जयकिशन प्रसाद खण्डेलवाल, रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय जबलपुर से डा. एस. पी. दुबे और डा. छाया राय, पजाब विश्वविद्यालय चण्डीगढ से डा. आशा मोदिगल, महाराज हरिश्चन्द्र कालिज मुरादाबाद से दर्शन विभागाध्यक्ष डा. एस थपलियाल, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी से डा. के. एन मिश्र तथा एच एन. बहुगुणा गढ़वाल विश्वविद्यालय श्रीनगर से श्रीमती डा० इन्दु पाण्डेय ने सेमीनार मे तीन दिन तक उपस्थित रहकर विद्वान् वक्ताओ के व्याख्यान सुने और अपने शोध पत्रो का वाचन किया।

बीस स्थानीय प्रतिनिधि इस सेमीनार मे प्रारम्भ से अन्त तक उपस्थित रहे। ये बीस प्रतिनिधि प्राच्य विद्या संकाय के विभिन्न विभागो के प्राध्यापक थे। दर्शन विभाग के डा. विजयपाल शास्त्री, डा. यू. एस. विष्ट और डा. त्रिलोकचन्द सेमीनार मे प्रतिनिधि होने के साथ-२ आयोजन के सक्रिय संयोजक भी रहे।

सस्कृत विभाग के डा. वेदप्रकाश शास्त्री डा. महावीर अग्रवाल, डा. सोमदेव शतांशु, डा. राम प्रकाश शर्मा और डा. ब्रह्मदेव स्थानीय प्रतिनिधि थे। वेद विभाग में प्रो० रामप्रसाद वेदालंकार, डा. भारतभूषण वेदालंकार, मनुदेव बन्धु, डा. रूपकिशोर शास्त्री और डा. दिनेश कुमार प्रतिनिधि थे। इतिहास विभाग से स्थानीय प्रतिनिधि थे डा. श्याम नारायण सिंह, डा. काश्मीर सिंह, डा. राकेश शर्मा और योग विभाग से डा. ईश्वर भारद्वाज तथा सुरेन्द्र कुमार प्रतिनिधि थे।

उक्त राष्ट्रीय सेमीनार में कुल पांच सत्र आयोजित किये गये जिनमें विषयानुसार विभिन्न समस्याओं पर बहस की गयी। प्रथम सत्र २५–३–९३ को प्रातः नौ बजे से साढ़े ग्यारह बजे तक सम्पन्न हुआ जिसकी अध्यक्षता दिल्ली विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के प्रतिष्ठित विद्वान् डा. एस. आर. भट्ट ने की। इस सत्र में मुख्य वक्ता थे दिल्ली विश्वविद्यालय के दार्शनिक विद्वान् डा. वेद प्रकाश वर्मा। डा. वेद प्रकाश वर्मा का व्याख्यान अत्यधिक विचारोत्तेजक रहा।

डा. वर्मा ने अपने भाषण में अनेक उल्लेखनीय विचार रखे। उन्होंने बताया कि जैसी करनी वैसी भरनी का सिद्धांत पूर्णतः सत्य नहीं है। लोक में पुण्यशाली दुःख भोगते हुए और अधर्मी सुख भोगते हुए देखे जाते हैं। कर्मों का नियामक कोई ईश्वर नामक तत्त्व नहीं है। यह जो कहा जाता है कि मनुष्य अपने किये कर्मों का ही फल भोगता है यह कथन भी पूर्णतया यथार्थ नहीं है। मनुष्य दूसरों के किये कर्मों का भी फल भोगता है। एक नेता या मन्त्री की भूल का दण्ड सारे राष्ट्र को भोगना पड़ता है। माता-पिता के गलत निर्णय सन्तान के भविष्य को बिगाड़ देते हैं। युद्ध में एक सेनापति का असामयिक आदेश हजारों सैनिकों के व्यर्थ प्राण ले लेता है। इससे यह सिद्ध होता है कि प्राणी अपने कर्मों के साथ–साथ दूसरों के कर्मों का फल भी भोगता है।

डा० वर्मा के उक्त विचारों पर विद्वानों में पर्याप्त प्रतिक्रिया हुई।

द्वितीय सभा का प्रारम्भ २५ मार्च को १२ बजे हुआ तथा यह दो बजे तक सम्पन्न हुआ इसकी अध्यक्षता बी०एच०यू० के मूर्धन्य विद्वान् डा० केदारनाथ मिश्र ने की। इसमें डा० छायाराम डा० एस०पी० दूबे तथा डा० के०के० मित्तल ने अपने शोध पत्रों का वाचन किया।

तृतीय सत्र ३.३० बजे से ६ बजे सायम् तक सम्पन्न हुआ। इस सभा की अध्यक्षता थी रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय जबलपुर की दर्शनविभाग की प्रो० डा० छायाराय ने की इसमें डा० एच .एस. प्रसाद, डा० इन्दु पाण्डेय तथा डा० यू०एस० बिष्ट ने अपने शोध पत्रों का वाचन किया। इस सत्र में कुछ वक्ताओं और श्रोताओं ने कर्म सम्बन्धी

कुछ समस्याएं उठायीं जिनका समुचित उत्तर डा०के०एन० मिश्र ने दिया। एक प्रश्न था कि यदि यह निखिल लोक अपने कर्मसूत्रों से बंधा हुआ है तो व्यक्ति स्वातन्त्र्य का क्या औचित्य रह जाता है।

२६/३/८३ को प्रातः नौ बजे चतुर्थ सत्र का प्रारम्भ हुआ और यह १२.३० तक चलता रहा। दिल्ली विश्वविद्यालय के बौद्ध दर्शन विभाग के अध्यक्ष डा० के०के० मित्तल ने इस सभा की अध्यक्षता की। डा० आशा मोद्गिल, डा० मधुकर श्रीवास्तव डा० जयकिशन प्रसाद खण्डेलवाल और डा० महावीर अग्रवाल ने इस सत्र में अपने शोध लेखों का वाचन किया।

सेमीनार का पांचवां और अन्तिम सत्र २६ मार्च को २.३० बजे से सायं ६ बजे तक सम्पन्न हुआ। इसमें मुख्य वक्ता थे डा० एन० थपलियाल डा० मनुदेव बन्धु डा० दिनेशचन्द्र और डा० ईश्वर भारद्वाज। इस सत्र की समाप्ति के साथ ही राष्ट्रिय सेमीनार का समापन हुआ।

उक्त सेमीनार की उपलब्धियां—

उक्त राष्ट्रिय सेमीनार में कर्मसिद्धान्त एवं व्यक्ति स्वातन्त्र्य विषय पर विद्वानों ने पर्याप्त विचार मन्थन किया। निष्कर्ष रूप में निम्नलिखित विचार उभर कर सामने आये—

१— कर्म एवं कर्मफल के विषय में यह सिद्धान्त सर्वसम्मत है कि कृत कर्मों का फल कर्त्ता को अवश्य ही भोगना पड़ता है।

२— करोड़ों युगों के बीत जाने पर भी फलभोग के बिना कृत कर्मों का नाश नहीं होता।

३— यद्यपि गीता के अनुसार प्रसंख्यान अग्नि समस्त कर्मों को भस्मसात् कर देती है किन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि कृत कर्म फल भोग दिया बिना ही भस्म हो जाते हैं। प्रसंख्यान अग्नि का चयन करने से समस्त शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं।

४— जीव कर्म करने से पहले स्वतन्त्र है। कर्म करने के बाद वह फलभोग के लिये परतन्त्र हो जाता है।

५— निष्काम कर्मों से बन्धन नहीं होता। सकाम कर्म ही मनुष्य को परतन्त्र बनाते हैं।

६— न्याय दर्शन के अनुसार कर्मों के फल की व्यवस्था ईश्वर करता है।

७— मीमांसा दर्शन के अनुसार कर्म स्वयं ही अपने फल की व्यवस्था करता है। इसमें ईश्वर की कोई उपयोगिता नहीं।

८— कर्म चार प्रकार के हैं – शुक्ल, कृष्ण, शुक्ल कृष्ण और अशुक्ला कृष्ण। इनमें अन्तिम कोटि के कर्म योगियों के हैं। शेष कर्म पुण्यशाली पापी और साधारण मनुष्यों के हैं।

९— गीता के अनुसाप कर्म सिद्धान्त को समझने के लिये कर्म के साथ अकर्म और विकर्म को भी समझना आवश्यक है। कितनी भी व्याख्या और विवेचना करने पर भी कर्म सिचान्त के अविकल रहस्य को नहीं समझा जा सकता। गहना कर्मणो गतिः, कर्मगतिश्चित्रा आदि बचन इसकी दुर्ज्ञेयता का प्रतिपादन कर रहे हैं।

१०— कुछ विद्वनों का विचार था कि "जैसी करनी वेसी भरनी" और "मनुष्य अपने ही कर्मों का फल भोगता है दूसरों के कर्मों का नही" आदि सिद्धान्त पूर्णतया सत्य नहीं है।

सम्पादकीय

भारतीय दर्शन में कर्म की अवधारणा के सूत्र

मनुष्य ज्यों ही संसार में आकर आंखे खोलता है उसे विषमता दृष्टिगोचर होती है। इस विषमता को देखते हुए भारतीय ऋषियों ने कर्मफल के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उदाहरणार्थ वेदान्त दर्शन के अनुसार विश्व में नाना प्रकार की विषमता यह दर्शाती है कि इसका कारण हम सब मनुष्यों के कर्म हैं।[1]

इसके भाष्य में शंकराचार्य लिखते हैं कि इस नश्वर जगत् में किसी को अत्यन्त सुख भोगी, किसी को अत्यन्त दुःख भोगी और किसी किसी को मध्यम अवस्था में देखा जाता है। किन्तु इससे ईश्वर की करुणा का अभाव सिद्ध नहीं होता। क्योंकि भगवान किसी वस्तु की अपेक्षा न करके सृष्टि के कार्य में प्रवृत्त होते हैं। वे तो जीव के भाग्य व संचित कर्म को दृष्टिगत रखते हुए ही विषम सृष्टि करते है। अतएव ईश्वर तो निमित्त मात्र है[2]।

इस सूत्र के भाष्य में रामानुजाचार्य ने यह पाराशर वचन उद्धृत किया है कि सृज्य पदार्थों की सृष्टि में ईश्वर तो निमित्त मात्र है। असल में कर्म ही सृष्टि का प्रधान कारण है। भागवत के द्वितीय स्कन्ध में भागवतकार ने सृष्टि के पक्ष में तीन कारण बतलाये हैं—काल, स्वभाव और संस्कार। स्वभाव से मतलब है जगत् का जड़ उपादान प्रकृति संस्कार जीव का संचित कर्म है। जब प्रलय के अन्त मे पर्यायक्रम से सृष्टि का काल उपस्थित होता है तब भगवान जीव के अदृष्ट को अवलम्बन करके प्रकृति के परिणाम मे विचित्र सृष्टि की रचना करते हैं। अतएव कर्म ही सृष्टि की विषमता का प्रधान कारण है।

मीमांसक लोग भी कर्म की प्रधानता मानते है; उनके मन से भी कर्म ही विषमता का जनक है, किन्तु वे लोग कर्म के ऊपर विशेष बल देकर ईश्वर तक को उड़ा देना चाहते है; उनके मत के अनुसार कर्म ही स्वतः प्रवृत्त होकर फल उत्पन्न करता है। उसमे ईश्वर का कुछ भी कर्तृत्व नहीं है। वे भूल जाते हैं कि कर्म विधाता के विधान के बिना कुछ भी नहीं कर सकता। इसी कारण ईश्वर को निमित्त कहा गया है। ईश्वर को कर्मफल का विधाता कहने से यह तात्पर्य नहीं है कि इसे दण्ड और

---

१. वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथा हि दर्शयति।—ब्रह्म सूत्र २,१,३४।

२. सापेक्षो हीश्वरो विषमां सृष्टिं निर्मिमीते। किमपेक्षत इति चेत्। धर्माधर्मावपेक्षत इति वदामः। देवमनुष्यादि वैषम्ये तु तत्तत् जीवगतानि एव असाधारणानि। ब्र० सू० शांकर भाष्य— २/१/३४

पुरस्कार का नियंता नहीं कहा गया है। प्रचलित ईसाई धर्म में दण्ड-पुरस्कार के साथ ईश्वर का घनिष्ठ सम्बन्ध देखा जाता है। ईसाइयों का ईश्वर ईर्ष्यान्वित ईश्वर हैं इस प्रकार ईश्वर को जीव के पाप पुण्य के निर्णय कर्ता के पद पर प्रतिष्ठित कराया जाता है। वह प्रत्येक जीव द्वारा किये गये कर्मों को तौल करके सुख दु ख का विधान करता है।

जगत् में देख पड़ने वाली विषमता का समाधान कर्मवाद की सहायतासे किया जाता है। किन्तु उससे सृष्टि के आरम्भ में जो विषमता प्रवर्तित थी, उसका कारण बतलाया जाना क्या सम्भव है? शास्त्र में सृष्टि का जैसा विवरण दिया हुआ है, उससे ज्ञात होता है कि जगत् में पहले से ही विषमता मौजूद है। उद्भिज्ज, पशु, मनुष्य और देव-जीव में भेद आरम्भ से ही है।

उससे सृष्टि के आरम्भ में देव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि विविध पदर्थ उत्पन्न हुए।

'उस अक्षर से विविध पदार्थ उत्पन्न होने हैं और उसी में लीन हो जाते है। पहले कहा गया है कि कर्म वैचित्र्य ही इस विषमता का कारण हैं। देहधारी जीव के बिना कर्म कौन करेगा? सृष्टि के पहले तो जीव का देह के साथ संयोग रहता नहीं। तब कर्म आयेगा कहां से? और यह कहा जाता है कि ईश्वर जीव के कर्म की अपेक्षा करके ही सृष्टि-वैषम्य का विधान करते है। इस आपत्ति का उत्तर देना भारतीय दर्शन के लिए बहुत ही सहज है, क्योंकि भारतीय शास्त्र के अनुसार सृष्टि अनादि है और

आगे भी यह सिलसिला जारी रहेगा।

जिस प्रकार अंकुर से बीज और बीज से अंकुर होता है उसी प्रकार कर्म में सृष्टि और सृष्टि के लिए कर्म है। इस विषय में ब्रह्म-सूत्र का निर्णय इस प्रकार है—

न कर्माविभागत् इति चेत् न अनादित्वात्।

पंतजलि ने भी योग सूत्र में यही बात कह है की हमारे अन्दर वासनाओं का आदि नही है। ये कर्म के विपाक अनादि काल से है। उनका प्रारम्भ नहीं माना जा सकता है। ये कर्म की वासनायें जन्म जन्मान्तर में साथ रहती हैं[1]। वह नित्य रहना चाहता है। उसकी यही इच्छा सिद्ध करती है कि वह नाना जन्मों में कर्म करता रहा है और उनका फल भोगता रहा है।

---

१. तासां अनादित्वम् चाशिषोनित्यत्वात्। योगसूत्र—४,१०

कर्म क्या है ? आत्मसात् करने पर हम देखते हैं कि आत्मा की तीन शक्तियां हैं। ज्ञान शक्ति, इच्छा शक्ति और क्रिया शक्ति[1]।

शक्ति का प्रकाश क्रिया से होता है। आत्मा की ये जो तीनों शक्तियां हैं, इनका प्रकाश किसमें हैं ?

ज्ञान शक्ति की क्रिया चिन्तन है, इच्छा शक्ति की क्रिया वासना है और क्रिया शक्ति की क्रिया चेष्टा है। इसलिए आत्मा से जो तीन शक्तियां उद्भूत होती है उनका प्रकाश चिंतन, वासना और चेष्टा के द्वारा होता है।

जगत् सभी जगह नियम के अधीन है। अत: वैज्ञानिक नियम 'क्रिया भाव की प्रतिक्रिया है' जैसा प्राकृतिक जगत् के सम्बन्ध मे सत्य है वैसा ही आध्यात्मिक जगत् के सम्बन्ध मे भी सत्य है। क्या आध्यात्मिक और क्या प्राकृतिक, क्या चित् और क्या जड़, जगत् में कहीं भी इस नियम का मन्तव्य सिद्ध नहीं होता। इस त्रिविध क्रिया-चिन्तन, वासना और चेष्टा का साधारण नाम कर्म है। कर्मफल कर्म का ही उत्तरोत्तर रूप है और कर्म कर्मफल का पूर्वरूप है। कर्म करने मे उसका फल होगा ही, यह स्वयं सिद्ध बात है। अतएव चिन्तन, वासना और चेष्टा का कर्म फल अवश्य फलीभूत होगा।

कर्म का फल अवश्य ही भोगना पड़ता है। यह सिद्धान्त चार्वाक को छोड़कर सभी भारतीय दार्शनिक सम्प्रदाय स्वीकार करते हैं। कर्म अपने फलों को भोगे बिना नष्ट नहीं होते हैं, चाहे सैकड़ों कल्प क्यों न व्यतीत हो जायें[2]। ब्रह्मवैवर्त में भी इसे स्पष्ट माना गया है कि पाप और पुण्य युक्त कर्म अवश्य ही भोगने पड़ते हैं, बिना भोगे हुए वे नष्ट नहीं होते।

इन कर्मों को भोगने में महाभारत में युक्ति दी गई है कि जिस प्रकार हजारों गायों के बीच बछड़ा अपनी मां को ढूंढ लेता है, उसी प्रकार पूर्वकृत कर्म अपने कर्ता का अनुसरण करता है[3]। यह मानना उचित होगा कि कर्म के पंजे में आने के पश्चात् उससे बचने का कोई उपाय नहीं है। अत: कर्म का फल भोगना ही पड़ता है। एक

---

१. परास्य शक्ति विविधैर्श्रूयते
   स्वाभाविकी ज्ञान-बल-क्रिया च। श्वेताश्वतरोपनिषद् ६/८।

२. मामुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटि शतैरपि।

३. क्रियामान्य तत् कर्म वर्तमानं तदुच्यते।
   अनेक जन्म संजातं प्राक्तनं संचितस्मृतम ॥
   भागवत ६/१०/७६-१२

अंग्रेजी कहावत के अनुसार जैसा बीज होगा वैसा ही वृक्ष होगा (As you sow as you reap)। बबूल का बीज बोकर आम की आशा करना केवल मूर्खता ही कही जा सकती है। अतः पुण्य कर्म का फल सुख है और पाप कर्म का फल दुःख है। योग दर्शन में इस सिद्धांत का प्रतिपादन करते हुए स्पष्ट युक्ति दी गई है कि पाप और पुण्य हेतु होने के कारण उन कर्मों का फल सुख रूप और दुःख रूप ही होता है[1]। इस जन्म में मनुष्य अनेक प्रकार के कर्म करता है। इसी जन्म में ही नहीं अपितु अनेक जन्मों में और अनेक योनियों में पुनः पुनः जन्म लेता हुआ वह विचरता है। वह जीवात्मा अनेक चिन्तन, वासना और चेष्टाओं का कर्त्ता है। हमारे पूर्व जन्म के किये हुए कर्म अथवा इस जन्म के कर्म शुभ या अशुभ होंगे। पुण्य या पापमय होंगे। सुकर्म होगें या दुष्कर्म होंगें। इसी जन्म के कर्मों का फल इसी जन्म में मिले, यह आवश्यक नहीं। कर्म के विषय में अनेक दार्शनिक शंकायें उत्पन्न होती हैं कि एक कर्म का फल एक जन्म होता है अथवा उसी एक कर्म का फल अनेक जन्म होता है। यदि इन उपर्युक्त दोनों में से किसी अवस्था को स्वीकार किया जाय तो काल के न्यून-होने पर आपत्ति आ खड़ी होती है। एक कर्म का फल एक जन्म मानने पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि एक जन्म के कर्मों का भोगना भी कठिन हो जायेगा। एक जन्म में मनुष्य अनेक कर्मों को करता है। अतः उन कर्मों का फल प्राप्त करने के लिए वह कितने ही जन्म लेगा। अतः समय नहीं होगा और असंख्य कर्मों का फल भोगना शेष रहता रहेगा। अत. इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया जा सकता। एक कर्म का फल यदि अनेक जन्म माना जाय तो काल की अत्यधिक न्यूनता होगी। कर्मो का फल भोगना असंभव हो जायेगा।

यदि तीसरा सिद्धान्त स्वीकार किया जाय कि अनेक कर्मों का फल अनेक जन्म होता है तो भी पूर्व प्रश्न समुपस्थित होगा। अतः काल का अभाव ही कर्मों का फल भोगने नहीं देगा। अतः यह मानना उचित होगा कि अनेक कर्मों का फल एक जन्म होता है। जिन कर्मों के कारण विपाक बनता है, वे क्रियमाण कर्म कहे जाते हैं। उन्हीं को वर्तमान कर्म भी कह सकते हैं[2]। योग दर्शन में कहा है कि योगी के कर्म पाप और पुण्य रहित होते है, योगियों से भिन्न सामान्य मनुष्यों के कर्म तीन प्रकार के

---

१. यथा धेनु सहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम्।
तथा पूर्वं कृत कर्म कर्तारमनुगच्छति। महाभा० शान्ति पर्व।

२. ते ह्लाद परितापफलाः पुण्यापुण्य हेतुत्वात् (योग० २/१४)

योगियों से भिन्न सामान्य मनुष्यों के कर्म तीन प्रकार के है[1]। जो सामान्य मनुष्य होते है उनके कर्म शुक्ल अर्थात् पुण्य, कृष्ण अर्थात् पापयुक्त और शुक्ल कृष्ण पापपुण्य मिश्रित। इन उक्त तीन प्रकार के कर्मों के प्रधान कर्म ही अगले जन्म को निर्धारित करते हैं। अर्थात् मनुष्य जन्म के फल देने के लिए अभिमुख जो वासनायें हैं, उन्ही की अभिव्यक्ति मनुष्यादि जन्म के लिए होती है।[2]

मनुष्य के असंख्य संचित कर्म पड़े रहते हैं। उनके भोगने का अवसर पता नहीं किस जन्म में आयेगा? उन्हीं कर्मों को भोगने का जब अवसर आता है तो हम उन्हें प्रारब्ध या भाग्य कहते हैं। प्रारब्ध कर्मों के विषय में भागवत में कहा है कि संचित कर्मों में से जिस निर्दिष्ट अंश को भोगने के लिये जन्म से पूर्वकाल प्रेरणा करता है वही प्रारब्ध कर्म है।[3] अतः कर्मों का विभाजन इस प्रकार हुआ, संचित। प्रारब्ध और क्रियमाण। सचित कर्म को कच्चा फल समझना चाहिए। वह अभी भोग के योग्य नहीं है। प्रारब्ध कर्म पका हुआ फल है – वह फल देने योग्य हो गया है। इस जन्म के जो प्रारब्ध कर्म हैं, उनको भोगना ही पड़ेगा। बिना भोगे उन का नाश नहीं होता है।[4] जैसे धनुष से छूटा हुआ तीर अपने लक्ष्य तक पहुंचे बिना नहीं रुकता है। उसी प्रकार कर्म का भोगना प्रारम्भ हो गया है, वह भोगे बिना अधूरा नहीं रहता है।

जिस जातीय कर्म का जो विपाक होता है उसी के अनुस.र वासना का उदय होता हे। कर्म फल के सामञ्जस्य के विषय में योग दर्शन में स्पष्ट माना गया है कि कर्म और भोग के मध्य सैकड़ों। हजारों जातियों, दूर आते दूर के देशों और करोड़ों कल्प समय का अन्तर रह सकता है। उनके आनन्तर्य में कुछ भी हानि नहीं होती है अपितु पूर्ण समन्वय एवं सामञ्जस्य बना रहता है।[5]

---

१. कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्।
[योग कै० पा० ६ सूत्र]

२. ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम्। [यो० ४/८]

३. संचितानां पुनर्मध्यात् समाहृत्य कियत् किल्।
देहारंभे च समये कालः प्रेरयतीव तत:।। प्रारब्ध कर्म विज्ञेयम्
तदैव संचितेभ्यश्च कर्मभ्यः कर्मभिः पुनः [देवी भागवत–६/१०/९-१२]

४. योजत्येव तं कालः [भागवत ४/१२/२२-४०]
प्रारब्ध कर्माणां भोगादेवक्षयः [भा०]

५. जातिदेशकालव्यवहितानामपि आनन्तर्यं स्मृति संस्कारयोः एकरूपत्वात्।
[यो० ४/९]

इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जिन कर्मों का क्रम भोगारूढ़ है वे कर्म किसी कल्प पूर्व भी किये हो सकते हैं। उनका निर्णय करना अत्यधिक दुष्कर माना गया है। सामान्य व्यक्ति की तो बात ही क्या है? योगी जन भी उस कर्म की विचित्र गति को जानने में असमर्थ हैं। योग दर्शन में व्यास मुनि भाष्य में यह स्पष्ट मानते हैं कि कर्मों की गति अति विचित्र है। योगी भी उसे जानने में असमर्थ हैं? कर्माशय दृष्ट और अदृष्ट जन्म वेदनीय होते हैं। सूत्रकार कहता है कि कर्माशय का अर्थ धर्माधर्म है। यह धर्माधर्म मोहादिमूलक हैं और इन के फल इस जन्म और अगले जन्म में प्रकाशित होते हैं। इस पर योग भाष्यकार व्यास लिखते हैं कि हमारे इस जन्म के कर्म का मूल काम, क्रोध, लोभ और मोह है। इन का फल इस जन्म में या अगले जन्मों में भोगता है। उत्कृष्ट पाप या पुण्य का फल सद्य मिलता है। जैसे पीड़ित, भयभीत, आर्त और शरणागत पर अत्याचार, ऋषि तपस्वी को पीड़ित करना इत्यादि ऐसे कर्म हैं जिनका फल कर्माशय तुरन्त देने में समर्थ हो जाता है। इस सम्बन्ध में व्यास भाष्य में दो उदाहरण प्राप्त होते हैं। नहुष और नंदीश्वर नहुष इन्द्र का पद पाकर इतने अभिमानी हो गये कि उन्होंने अगस्त जैसे मुनियों को सताना प्रारम्भ कर दिया। उसका फल मिला अजगर का जन्म। इसी प्रकार नन्दीश्वर ने देव की इतनी आराधना की कि उन्हें मनुष्य शरीर के बदले इसी जन्म में देवत्व मिल गया था। इसी प्रकार पुराणों और अन्यत्र इस प्रकार के दृष्टान्त दिये जाते हैं। उन कथाओं की सत्यता पर सन्देह किया जा सकता है परन्तु युक्ति से यह सिद्ध होता है कि तीव्र पाप और पुण्य कर्मों से सद्य फल की प्राप्ति हो सकती है।

कर्मफल विपाक—

कर्म का फल तभी मिलता है जब उसका विपाक हो जाता हैं। जैसे कुम्भकार घट का निर्माण करके उस को पकाता है, उसे अग्नि में रख कर पाक करता है। ऐसे ही जब मनुष्य कर्म करता है तो उसके बाद उस की चित्त में

अवशिष्ट वासनायें ही कर्म विपाक में मुख्य भूमिका निभाती है। जैसा कि बृहदारण्यकोपनिषद् में इस कर्म विपाक को स्पष्ट करते हुए कहा है कि यह जीवात्मा काममय है। जिस की जैसी कामना होती है, वैसा ही वह चिन्तन करता है, जैसा चिन्तन करता है, उसके अनुसार कर्म करता है। जैसा कर्म करता है वैसा ही हो जाता है अर्थात् फल मिलता है। इस प्रकार जन्म की कामना और चिन्तन द्वारा अगला जन्म निश्चित हो जाता है। यहां प्रश्न हो सकता है कि पहले कामना होती है या वासना? एक जन्म की वासना आगे आने वाले जन्म को किस तरह निश्चय करती है? इसके उत्तर में बृहदारण्यक उपनिषद् मे स्पष्ट किया है कि जहाँ पर काम्यता होती है वहां पर जीव जाता है इस विषय मे मुण्डकोपनिषद् भी बतलाती है कि यह जीवात्मा जिन काम्य वस्तुओं की कामना करता है, वहीं पर कामना के फल से उसका जन्म निश्चित हो जाता है[1] इसी मान्यता को बृहदारण्यक में कहा है कि जिसका मन जिस मे आसक्त है, उसी स्थान मे उसे कर्म ले जाता है[2]।

गीता में भी कहा है कि जो स्वर्ग लोक में जाने के कर्म करता है, वह स्वर्ग में अवश्य जाता है क्योंकि वह उसकी काम्य वस्तु है[3]। कर्म के महत्व पर प्रकाश डालते हुए बृहदारण्यक ने माना है कि कर्म के फल स्वरूप स्वर्ग की प्राप्ति और वहां से पुनः आना ये सभी कर्म की महिमा का ही परिणाम है। बौद्ध दर्शन में इस कामना या काममय को, तृष्णा नाम से कहा है। अपभ्रंश पाली में तृष्णा को तन्हा कहा है यही तृष्णा ही संस्कार और जन्म का कारण बनती है।

---

१. कामान् यः कामयते मन्यमानः, स कामभिर्जायते तत्र तत्र।

तदेव सक्तः सह कर्मणैति। (बृ. ३, २, २)

२. लिङ्गं मनो यत्र निषक्तमस्य। (बृ० ४, ४, ६)

३. ते पुण्य मासाद्य सुरेन्द्रलोक — (गीता ९-२०)

क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति—(गीता ९-२१)

इस कर्मों का विपाक जहां पर बनता है योग दर्शन में उसे कर्माशय कहा गया है। यह कर्माशय तब तक अपना कार्य करता रहता है जब तक इस के मूल कारण अविद्या आदि क्लेशो का नाश नहीं होता और विवेक ज्ञान के द्वारा उक्त क्लेशों का नाश हो जाने से नष्टमूल हुआ कर्माशय अनन्त होने पर भी उक्त फलों का आरम्भ नहीं कर सकता है, क्योंकि मूल के कट जाने पर शाखा का फलीभूत होना सम्भव नही है। अत: अपने मूलभूत अविद्यादि क्लेशो के विद्यमान होने पर ही धर्माधर्म रूप कर्माशय जाति आदि फल के देने वाले हो सकते हैं अन्यथा नहीं।

भाष्यकार इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जैसे तण्डुलतुषों के विद्यमान होने पर अंकुर उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं, इसी प्रकार कर्माशय में अज्ञान होने तक ही कर्मों का विपाक जाति, आयु और भोग का देने वाला है[1]। जाति का अभिप्राय : यहां जन्म से है। बृहदारण्यक भी इसी मान्यता को स्वीकार करती है[2]।

मध्यकाल या पौराणिक मान्यता के अनुसार कर्मविधाता या भाग्यवाद को स्वीकार किया जाता है। वह एक विश्वास कहा जा सकता है। इस सिद्धान्त में दार्शनिक तर्क का अभाव प्रतीत होता है। जो कर्मों का नियत विपाक है, फल भोगने के अवसर को ही भाग्य कहना उचित है। कुछ लोगों की मान्यता के अनुसार दैव की कल्पना की गई है कि दैव ही सब करता हैं। वास्तव में वह हमारे सञ्चित कर्मों का भोगारूढ़ फल है। दैव वास्तव मे होता ही नही है, केवल कल्पना मात्र हैं। योग–वासिष्ठ मे स्पष्ट किया गया है कि मन्द बुद्धि के लोगों ने दैव की कल्पना की है। इस बात को स्पष्ट करते हुए मीमांसा की गई है कि जो लोग कर्म न करके भाग्य के भरोसे बैठे रहते हैं वे अपना धर्म, अर्थ और काम सभी नष्ट कर देते हैं वे दैव को सब कुछ मानकर ही पुरुषार्थ हीन हो जाते हैं। ऐसे लोगो के यहां से लक्ष्मी भी वापस लौट जाती है अर्थात् वे निर्धन बन जाते हैं। इसीलिए पौरुष दो प्रकार का माना गया है- प्राक्तन और अद्यतन। इसे ही आमुष्मिक और ऐहिक, पिछले जन्म का और इस जन्म का किया हुआ कर्म कहा जाता है। वास्तव में पौरुष ही सर्वत्र कर्म करता है, दैव नहीं वास्तव में पिछले जन्म का किया हुआ कर्म, या इसी जन्म का कर्म भी भोगते समय अदृष्ट

१. सतिमूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगा, (योग० २-१३)

२. बृ० ४-४-६

कहाता है। अदृष्ट कोई दैव नहीं है। वह प्राक्तन कर्म ही है। हां यह अवश्य तथ्यपूर्ण है कि किस कर्म का फल क्या होगा ? यह निश्चित रूप में कहना बड़ा ही कठिन है। क्योंकि कर्मों के फल का निर्धारण जानना दुष्कर है।

कर्म का प्रारम्भ कब से हुआ ? इस का उत्तर प्राय: भारतीय दर्शन में अनादि मान कर दिया गया है। क्योंकि यदि कर्म का प्रारम्भ माना जाय और जीवात्मा का कोई भी जीवन का प्रारम्भ या आदि माना जायेगा तो न किये हुए कर्म का भोग और किये गये कर्म का विनाश मानना पड़ेगा। अत: इसलिए योग दर्शन में स्पष्ट रूप में बतलाया गया है कि कर्मों की वासना या कर्म विपाक अनादि है। जब जीवात्मा नित्य है और संसार भी प्रवाह से अनादि है तो कर्म भी अनादि स्वत: सिद्ध हो जाते हैं।

निष्काम कर्म—

वैदिक साहित्य से लेकर समस्त भारतीय दार्शनिक वाङ्मय में कर्मों को अनिवार्य बतलाया गया है। इस सिद्धान्त का विरोधाभास भी उस साहित्य में प्राप्त होता है। अर्थात् आत्मा या मन के विकास की वह चरम स्थिति जिसमें कर्म करता है, परन्तु उस का फल नहीं मिलता अर्थात् वह कर्म मन की उस उच्च स्थिति में करता है, जिसमें कर्म के पीछे वासना या लगाव (मोहादि) आदि का संक्रमण नहीं होने देता है। यह तभी सम्भव है जब आत्मा कर्म फल के प्रति आसक्ति हटा कर नित्यतृप्त और लगाव रहित हो गया है[1]। इसी को गीताकार ने स्पष्ट करते हुए कहा कि कर्मों के पीछे अहं भाव को छोड़ देना चाहिये जो व्यक्ति ईश्वर में कर्म अर्पण करके आसक्ति रहित होकर कर्म करता है, वह उसके फल में लिप्त नहीं होता है[2]। वेदान्त दर्शन भी यही मानता है कि तत्वज्ञान की स्थिति उत्पन्न हो जाने के बाद केवल क्रियमाण पाप का ही नहीं अपितु क्रियमाण पुण्य का भी अश्लेष हो जाता है। इसी प्रकार उपनिषद् भी कहती है कि तत्वज्ञानी पाप और पुण्य दोनों से बच कर अमृत को प्राप्त कर लेता है। सांख्यदर्शन में विवेक ज्ञान की

---

१. त्यक्त्वा कर्म फलासंग नित्यतृप्तो निराश्रय-गीता

२. ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति य:।
लिप्यते न स: पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ गीता-५/१०

पराकाष्ठा का वर्णन करते हुए कहा कि सम्यक् ज्ञान प्राप्त होने के बाद धर्मादिक सात बन्धन दग्ध बीजभाव को प्राप्त हो जाते है। जैसे कि अग्नि से दग्ध बीज, प्ररोह शक्ति को प्राप्त नहीं होता, ऐसे ही ज्ञानाग्नि से दग्ध कर्म फल देने मे समर्थ नहीं होते है। इसलिए मुण्डक उपनिषद् में कहा है कि समाधि प्राप्त सम्यक् ज्ञान से कर्म क्षीण हो जाते है। आचार्य शंकर भी इन कर्मों को भस्म हुआ मानते हैं। वे स्पष्ट करते है कि भस्मान्त संचित कर्म का फल नहीं भोगना पड़ता हैं। उसके दूसरे जन्म का भय नहीं रहता है। यह तभी सम्भव है कि जब सम्पूर्ण अज्ञान नष्ट हो जाता है। हां इतना अवश्य है कि जो कर्म भोगारूढ़ हो गये हैं, वे अवश्य भोगे जाते हैं प्रवृत्त कर्मो को ज्ञानाग्नि से दग्ध किया जा सकता है। इसलिए सांख्यदर्शन मे कहा है कि कर्म नष्ट होने पर भी भोगारूढ़ कर्म फल भोगने तक शरीर रहता है, उस के बाद पुरुष की मुक्ति हो जाती है।

पूर्वमीमांसा दर्शन में कर्मवाद की अवधारणा—

भारतीय दर्शनों में अन्य दर्शनों की अपेक्षा मीमांसा दशन कर्मवाद के पक्ष में मत देता है। मीमांसाकार जैमिनी कहते हैं कि जिन कर्मो के फल अदृष्ट है वे कर्म तो प्रधान हैं जो दृष्ट कर्मफल, हैं वह उन कर्मों को गौण मानते हैं[1]।

कुमारिल मत में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि कर्म से पृथक कार्य होता है, समवाय से स्वीकार नहीं करते।[2]

मीमांसा के अनुसार दूसरे के द्वारा किये गये कर्मो का फल अन्य किसी से सम्बन्ध नहीं रखते सर्वत्र क्योंकि अपने द्वारा किये गये कर्मो के अपने-अपने फल मिलते हैं।[3]

मीमांसा दर्शन के विषय में आचार्य बलदेव उपाध्याय भारतीय दर्शन के अध्याय मीमांसकों की आचार मीमांसा में कर्म के विषय में लिखते हुए कहते हैं कि वेद प्रतिपादित कर्म तीन प्रकार के होते हैं - जैसे काम्य, निषिद्ध और नित्य। तीनों की

---

१. पूर्वमीमांसा दर्शन १-४-८।
२. शास्त्रदीपिका पृ.सं. ५०।
३. पूर्वमीमांसादर्शन ६-२-७।

व्याख्या उन्होंने अलग-अलग ढंग से की है, काम्य कर्म वही है जो कि कामना वश किसी विशेष प्रयोजन के लिए किया जाता है। द्वितीय प्रकार का कर्म निषिद्ध है जैसे नजन्मसयत्'' अर्थात् कालन्ज नामक पक्षी का मांस नही खाना चाहिए क्योंकि अनर्थ का उत्पादन होता है। और विषयुक्त शस्त्र से मारे गये पशु आदि का भी नहीं खाना चाहिये। तृतीय कर्म नित्य और नैमित्तिक माना है संध्या वन्दन आदि नित्य और श्राद्ध कर्म नैमित्तिक करणीय कर्म माना गया है।

एक दूसरे सूत्र में उन्होने कर्मकाण्ड के ऊपर विशेष बल देते हुए कहा है कि-वेद का कर्मकाण्ड ही सार्थक है। अन्य बाकी निरर्थक है क्योंकि वेद का मुख्य प्रयोजन ही कर्मवाद है। कर्म का प्रयोजन जैमिनी केवल कर्मयज्ञ ही मानते हैं जिसमें हविष्य आदि पदार्थ का समर्पण किया जाए। अतः यह मीमांसकों की कर्म के विषय में अवधारणा है।

न्याय दर्शन में कर्म की अवधारणा — न्याय दर्शन भी कर्मवाद को मानता है।

न्याय दर्शन के अनुसार नैतिकता के साथ-२ पुनर्जन्म को माना गया है। इसके अनुसार कहा गया है कि नैयायिक हमें कहता है कि पृथकत्व के भाव को दबाये रखना चाहिए। डा० राधा कृष्ण लिखते है कि उसके मन में ऐसी प्रवृत्ति जो इन विषयों पर विजय पा लेती है पुनजन्म का करण नहीं होती। यहां पर कर्मों का बन्धन न्याय दर्शन के अनुसार नही माना गया है[1]। न्यायकार को भाष्य के अनुसार 'समस्त कर्मों का उद्देश्य सुख प्राप्ति तथा दुःख का परिहार होना है[2]।''

नैयायिकों के अनुसार जीवात्मा जो कर्म करता है उसका फल उसे अवश्य मिलता है। कोई कर्म ऐसे हैं जिनका फल उसे तुरन्त मिलता है व किसी कर्म का फल बहुकाल में जाकर मिलता है। कर्मकाण्ड को दूसरी श्रणी में रखा गया है क्योंकि स्वर्ग प्राप्ति मृत्यु से पूर्व नहीं माना गया है।

न्याय के अनुसार कर्मवाद सृष्टि से होकर मोक्ष पर्यन्त है क्योंकि कार्य कारणवाद को उसने माना है। जहां करण है, वहां पर कार्य है इस प्रकार कर्मवाद की निर्व्यत्ति होती है।

---

१. न्यायसूत्र ४-१-३४ और डा० राधाकृष्ण भारतीय दर्शन पृ० सं० १३० भाग-२१

२. न्यायभाष्य इस न्याय वार्तिक १-१-२४

वैशेषिक दर्शन में कर्म की अवधरणा—

वैशेषिक दर्शनकार कर्म को अलग से सब पदार्थों में से एक पदार्थ मानता है और कर्म उस नैतिक विधान से होने वाले को न कहकर एक पदार्थ के रूप में स्वीकार किया गया है। इस दर्शन में कर्म को गति के रूप में मानते हुए कणाद परिभाषा करते हैं कि "कर्म वह है जो एक द्रव्य के रूप में रहता है, क्योंकि उसमें गुण नहीं होता उसमें केवल संयोग और विभाग को मुख्य कारण माना है[1]।

स्वेच्छाकृत कर्म की व्याख्या प्रशस्तपाद 'कृत पदार्थ धर्म संग्रह' में की गई है— जो कर्म इन्द्रियों के कर्मों के कारण हैं, वह सहज है और जो कर्म इच्छापूर्वक किये जाते हैं, वे स्वेच्छाकृत कर्म हैं। इसी स्वेच्छाकृत कर्मों को हित प्राप्ति माना है और स्वैच्छिक कर्मों को शारीरिक ही स्वीकार किया गया है। इस प्रकार वैशेषिक दर्शन गति को स्वीकार करता है। गति को ही कर्म कहा गया है। नीतिशास्त्र वैशेषिक का कर्मपरक ही है। यहां पर कर्म को माना गया है। जब तक इच्छा और द्वेष हमारे ऊपर हावी रहते हैं, तब तक हम धर्म अधर्म करते हैं। वही कर्म हमको देहधारण कराते हैं।

सांख्य दर्शन में कर्मवाद की व्याख्या—

नारायण स्वामी सांख्य दर्शन में कर्मवाद को मानते हुए अपने कर्म रहस्य में सांख्य सूत्र की व्याख्या करते है कि— संसार में तरह-२ के मनुष्य, पशु, पक्षी और वृक्ष आदि देखने में आते हैं और जगत की विचित्रता ही कर्म के कारण है। उनका कहना हैं कि मनुष्य का कर्म ही सुख दु:ख का कारण है क्योंकि उसको भोग योनियां अनेक मिलती है। इससे यह सिद्ध होता है कि कर्म ही वैषम्य का कारण माना है[2]। एक अन्य सूत्र में उन्होंने कर्म को अनादि मानते हुए व्याख्या की है कि अनादि कर्मो के आकर्षण से भी प्रकृति चेष्टा करती है क्योंकि जीवों के कर्म अनादि है उसके फल भुगवाने के लिए ईश्वर के आकर्षण से प्रकृति चेष्टा करती है[3]।

---

१. वैशेषिक सूत्र—१-१-७

२. मूलपाठ नहीं है। कर्मरहस्य पृ०—२७, नारायण स्वामी

३. "कर्मा कृष्यतेर्वाअनादित: सांख्य दर्शन ३–६२ की व्याख्या नारायण स्वामी द्वारा किया है।

सांख्य कारिकाकार ने कर्म की अवधारणाओं को लेकर कहा है कि—"कर्म पद्धति कुछ हो जावे परन्तु भोगारूढ कर्म भोगने तक शरीर रहता है, भले ही जीवात्मा की मुक्ति योग के बाद हो जाये[1]।

भारतीय दर्शन मे डा० राधाकृष्णन् ने पुरुष का दुःख सुख के सम्बन्ध मे विवेचन किया है कि— यद्यपि दु ख के बोध के रूप मे बन्धन तथा क्रियाओ के रुप मे भेद और अभेद चित्त पर आभ्यन्तर इन्द्रियो से सम्बन्ध रखते हैं तो भी पुरुष का सुख अथवा दु ख केवल उसके अन्दर पड़े दुःख के प्रतिबिम्ब मे है[2]।

सांख्य दर्शन कर्मवाद की व्याख्याओ को भौतिक शरीर मे ही स्वीकार करता है। जब तक शरीर है तब तक कर्म भी रहता है[3]। यह स्पष्ट किया गया है कि सूक्ष्म शरीर मे भी कर्म के संस्कार विद्यमान रहते हैं। सांख्य ने यह भी बताया है कि कर्म के नियम बुद्धि में कार्य करते हैं।[4]

गीता में कर्म— गीता का कर्म अत्यन्त कठिन और गहन है। ऐसी अवस्था मे अर्जुन भी घबरा जाते हैं क्योंकि श्री कृष्ण दो प्रकार के तथ्यो को स्पष्ट करते हैं— ज्ञानियो के लिए ज्ञानमार्ग एव कर्म योगियो के लिए कर्म मार्ग। इससे यह सिद्ध होता है कि जितना महत्व ज्ञान का है उतना ही कर्म का है। बल्कि अर्जुन को यह प्रेरणा श्री कृष्ण द्वारा दी गयी उक्ति से स्पष्टतः कर्मवाद को ही श्रेष्ठ माना जा सकता है। आचार्य शंकर भी कर्म को स्वीकार करते है। उन्होने अपने भाष्य मे स्पष्ट माना है, कर्म और ज्ञान साथ-२ रहता है। क्योंकि श्री कृष्ण गीता का उपदेश करने वाले हैं और उनमे ज्ञान है। परन्तु शंकर का कर्म निष्काम कर्म है। महाभारत मे भी दोनो मार्गों का वर्णन आता है जैसा शंकर ने माना है।

---

१. सांख्य कारिका ६७ की व्याख्या।
२. भारतीय दर्शन डा० राधाकृष्ण का भाग-२ से।
३. सांख्यक रिका—५२
४. सांख्यकारिका पत्र ४५, ५५।

बाल गंगाधर तिलक गीता के कर्म के विषय में लिखते हैं कि कर्म शब्द केवल स्रोत ही नहीं अपितु इतना संकुचित अर्थ नहीं लिया जाना चाहिए किन्तु उससे अधिक व्यापक रूप लेना चाहिये[1] । इस प्रकार गीता का कर्मवाद विस्तृत रूप में होने से जो कुछ जीवात्मा करता है वह सब कर्म ही माना गया है । कर्मवाद का ही समर्थन करते हुए बालगंगाधर तिलक लिखते हैं कि —"हम लोग प्रत्यक्ष देखा करते हैं कि कोई-२ रोग परम्परा से प्रचलित रहते हैं । इसी तरह कोई-२ जन्म से दरिद्र होते है और कोई वैभव से पूर्ण राजकुल में उत्पन्न होता है । इन सब बातों की उत्पत्ति केवल कर्म के सिद्धान्त से ही लगायी जा सकती है । अन्य बहुतों का मत है कि यही कर्मवाद की सच्चाई का प्रमाण है ।[2]

कर्म को गीता में अनादि माना गया है अर्थात् जिनका न कोई प्रारंभ होता है और न कोई अन्त । गीता में लिखा है कि जब तक प्राणी मनुष्य योनि में रहता है, तब तक वह कर्म करता रहता है । कई ऐसे शब्द हैं जिनको कि कर्म परक किया जा सकता है । जैसे निष्काम कर्म करने की प्रेरणा दी गयी है । कहीं पर कर्म को समत्वयोग, बुद्धि योग धर्म कर्म, तदर्थ कर्म, मद कर्म इत्यादि शब्द कर्म को ही स्वीकार करते है ।

भारतीय दर्शन का आधार वेद ज्ञान है जिसको श्रुति भी कहा गया है । वेद को न मानने वाले नास्तिक की कोटी में आते है (नास्ति को वेद निन्दक:) । इस दृष्टि से छः दर्शन आस्तिक कहे जा सकते हैं । जिनके नाम है–। न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा (वेदान्त) । अब सर्वप्रथम वेदों में कर्म के विषय में विश्लेषण करना अति आवश्यक है । ऋग्वेद में कर्म के विषय में तीन पदार्थों का वर्णन एक स्थान पर किया गया है । उसके अनुसार एक साथ रहने वाले परस्पर मित्र दो पक्षी समान वृक्ष पर आश्रय करते हैं उन दोनों में से एक वृक्ष के फलों का भोग करता है और दूसरा न भोगता हुआ साक्षी मात्र है[3] ।

---

१. गीता रहस्य–बालगंगाधर तिलक ।

२. गीता रहस्य–बालगंगाधर तिलक ।

३. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्व जाते ।
तयोरन्य: पिप्पलं स्वादवत्य नश्न नन्यो अभिचाकशीति ॥ ऋग्वेद १-१४-२०

इस विषय में कर्म रहस्य के लेखक श्री नारायण स्वामी इन दोनों को ईश्वर और जीव मानते हैं। उनके अनुसार समान वृक्ष प्रकृति है, जो पक्षी फलों का भोग कर रहा है, वह जीवात्मा है और जो केवल साक्षी मात्र है वह ईश्वर है।

जगत मे जितनी भी विविधता दिखाई पड़ती है उसकी व्याख्या यदि हम केवल यदृच्छया पर ही आधारित मान ले तो सर्व बुद्धि उसको स्वीकार नहीं करेगी। क्योंकि प्रकृति के यन्त्रवत क्रिया कलाओं में भी एक नियम दिखाई पड़ता है। विशेष प्रकार की वस्तु से कोई अन्य विशेष प्रकार की वस्तु उत्पन्न हो ऐसा नहीं हो सकता। ये इस माया रूपी जगत की उचित व्याख्या नहीं कर पाते। संसार में विभिन्न प्रकार के मानव, पशु, पक्षी और वृक्ष आदि दिखाई देते है। इसी प्रकार मनुष्यों में भी सब एक से नहीं है कोई काला, गोरा, अमीर, गरीब आदि यदि इस भेद को ईश्वर की इच्छा पर आश्रित माने तब भी यह प्रश्न उठ सकता है कि ईश्वर इतना भेदभाव क्यों करता है। इसलिए इस विविधता को समझाने का और इसकी बुद्धिमूलक व्याख्या करने का श्रेष्ठ सिद्धांत यही हो सकता है कि उनके अपने कर्म के द्वारा ही उनका वैचित्र्य और अन्तर दिखाई पड़ता है। अपने कर्म ही से मनुष्य सुखी दुःखी होते है और नाना प्रकार के भोग करते हैं।

वेद इस बात पर आग्रह करते हैं कि जैसा मनुष्य दान करता है वैसा ही उसको सांसारिक दुःखों से उसकी रक्षा करने के लिए कवच रूप में प्राप्त होता है। उपनिषद् साहित्य में भी जगत की विविधता की व्याख्या करने के लिए कर्म सिद्धांत को ही आधार बनाया है। मुण्डक उपनिषद का यह मत है कि विविध पदार्थों की उत्पत्ति उसी अक्षर से होती है तथा उसी में सब लीन हो जाते है। जो विषमता जगत में दिखाई पड़ती है, उसका कारण उपनिषद भी कर्म वैचित्र्य को ही मानते है। कुछ लोग ऐसी आपत्ति करते हैं कि देहधारी जीव के बिना कर्म हो ही नहीं सकता। सृष्टि से पहले जीव का देह के साथ संयोग रहता ही नहीं इसलिए कर्म के होने की सम्भावना ही नहीं। और फिर इस विषमता का कारण ईश्वर को ही मानना पड़ेगा कि वह कर्म को अपेक्षित न करके सृष्टि में विषमता का विधान करते हैं। परन्तु यह तथ्य वहीं पर लागू होता है जहां पर कि सृष्टि की रचना किसी निश्चित काल में मानी गयी हो।

भारतीय दर्शनों ने इसी सिद्धांत की अपने ढग से व्याख्या की है परन्तु कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धांत को सब ने एक स्वर से स्वीकार किया है। कर्म सिद्धांत का आधार कुछ ऐसी मान्यताएं हैं कि जिन पर भौतिक-वादियों को छोड़कर सभी एक मत हैं।- कुछ अवधारणा निम्नलिखित है —

(१) मनुष्य का शरीर एक आत्मा है, जो नित्य है और भौतिक शरीर से पृथक् है।

(२) अन्य जीवों में भी एक तत्व आत्मा विद्यमान होता है।

(३) मनुष्यों, पशुओं, कीट पतंगों और औषधियों में विद्यमान रहने वाला आत्म तत्व एक दूसरे में प्रविष्ट हो सकता है।

कर्म शब्द ऋग्वेद में चालीस बार से अधिक प्रयुक्त हुआ है। कहीं-कहीं पर इसका अर्थ है पराक्रम या वीर। ऋग्वेद के कुछ स्थलों पर कर्म का अर्थ है धार्मिक कृत्य इत्यादि। कर्म में गति होती है परन्तु प्रत्येक गति को कर्म नहीं कह सकते। जिस गति के साथ सम्बन्ध जुड़ा रहता है, वही कर्म कहलाता है। तात्पर्य है कि जड़ वस्तुएं भी इस दृष्टि से इस श्रेणी में नहीं आती और न ही उनका शुभाशुभ फल होता है। चेतन प्राणी का संकल्प से सयुक्त जो कर्म होता है, उसी पर कर्म का सिद्धांत लागू होता हैं। इसलिए ऋषियों ने यह आदेश दिया है कि—संकल्प शिव होना चाहिये। अगर कर्म अशिव अर्थात् अकल्याणकारी है तो इसका परिणाम दुखदायी होगा। सामाजिक और आध्यात्मिक कार्य को संपन्न करने के लिए शिव संकल्प से ही कर्म संयुक्त होना चाहिए। अकल्याणकारी संकल्प अनिष्ट को जन्म देने वाला होता है। वेद इस विषय में बहुत स्पष्ट उद्घोष करते हैं।

मनुष्य अपने शुभाशुभ कर्मों के लिए उत्तदायी होता है। इसलिए उसको कर्म करते समय विवेक पूर्ण निर्णय लेना पड़ता हैं। जिससे वह अधोगति को प्राप्त नहीं होगा कर्म की सबसे निचली मर्यादा शरीर द्वारा सेवा मानी गयी है। इस भौतिक शरीर से मानव मात्र की जो भी सेवा हो जाये, उससे यज्ञ करना स्वयमेव सम्पन्न हो जाता है, भले ही वह अज्ञात रूप से हो। इसलिए आइये ! वेद के इस आदेश के अनुसार जीवन जीने का संकल्प लें —

> कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजिविशेच्छतं समाः।
> एवं त्वयि न न्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

गीता के अनुसार कर्म-सिध्दान्त और व्यक्ति स्वातंत्र्य

डा० एस० एन० थपलियाल

अपना लेख प्रारम्भ करने से पूर्व कर्म-सिद्धान्त और व्यक्ति स्वातंत्र्य के अभिप्रेतों को स्पष्ट करना चाहूंगा। कर्म-सिद्धान्त अपने पारम्परिक अर्थों में व्यक्ति स्वातंत्र्य के सिद्धान्त को भी अपने में आत्मसात् कर लेता है। यहां सेमिनार के विषय की प्रस्तावना में कर्म सिद्धान्त को व्यक्ति स्वातंत्र्य के प्रतिरोधी सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार कर्म-सिद्धान्त नियतत्ववाद (Deter minisn) और व्यक्ति स्वातंत्र्य (Human Freedom) की भावना से अभिप्रेत है। नियतत्ववाद को नीति शास्त्र के अर्थों में यदि व्यक्त करें तो कहना होगा कि यह आचरण का वह मानदण्ड है जिसके अनुसार व्यक्ति के ऐच्छिक कर्म भी किसी शक्ति समझ लीजिए कि "अदृष्ट" अथवा प्रकृति अथवा ईश्वर जैसी नियन्ता शक्ति के द्वारा निष्पन्न कराये जाते हैं ठीक उस प्रकार से जिस प्रकार गीता मे कहा गया है:—

कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजगुणै[1] — अर्थात् प्रकृति से उत्पन्न सत्व रज तम-सादि गुणों के द्वारा मनुष्य से बरबस कर्म कराये जाते हैं।

अभी हम कर्म-सिद्धान्त अथवा नियतत्ववाद की ही बात करें। मैं स्पिनोजा को नियतत्ववाद का मुख्य उद्गाता मानता हूं और काण्ट को वैयक्तिक स्वातंत्र्य का। स्पिनोजा का नियतत्ववाद यही कहता हैं कि प्रकृति के भीतर की समस्त घटनायें प्रकृति प्रेरित होती हैं। नीति शास्त्र के क्षेत्र में मनुष्य की प्रकृति ही उसके शारीरिक और मानसिक व्यापारों की व्यवस्थापिका है स्पिनोजा के अनुसार मनुष्य को चुपचाप प्रकृति के कार्यों में तटस्थ साक्षी होकर बरतना चाहिए[2]। गीता में भी मनुष्य के कर्मों को उससे स्वतंत्र माना गया है[3] यथा

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक् चेष्ठा दैवं चैवात्र पंचमम॥

---

१. गीता ३/५
२. सी० डी० ब्रोड: नीतिशास्त्र के पांच प्रकार पृ०
३. गीता १८/१४

कर्म का अधिष्ठान या कार्य क्षेत्र शरीर है, कर्मों का कराने वाला अहंकारयुक्त जीवात्मा (Individuale go) जिसे गीता में:— **अहंकार विमूढात्मा कर्ताह-मिति मन्यते**[1] अर्थात् प्रकृति कर्म कराती है तथापि जो भ्रम में पड़ा हुआ है कि (मैं कार्य करता हूं। उस जीव (Phenomenal self) को यहां कर्ता कहा हैं। कर्म का तीसरा हेतु करण है। मनुष्य की पंचज्ञानेंद्रियां और पंच कर्मेंदियां ही करण हैं। चौथां हेतु चेष्टा या प्रयास या प्राणवायु है जो इन्द्रियों में कार्य करने की शक्ति देता है और पांचवां हेतु दैव है वह अदृश्य कारक है जो अतीत में किये गये कार्यों का सम्पृक्त कोष है।

कर्मों के इन पांचों हेतुओं में सभी अपने-आप में स्वतत्र हैं। इनमें से किसी में भी संकल्प शक्ति नहीं है तथा ये सब जड़ प्रकृति से उद्भूत हैं। स्पिनोजा जो कि प्रकृति को ईश्वर से अभिन्न मानते हैं, कहते हैं अपने द्वारा क्रियमाण कर्मों पर मनुष्य का कोई नियन्त्रण नहीं हें। उसका संवेग का सिद्धान्त इस बात का सूचक है कि संवेग मनुष्य के अज्ञान के कारण उस चरम तत्व के द्वारा किये या कराये गये कार्य के विरोध स्वरूप उत्पन्न होते हैं। वे प्रकृति के अनिवार्य नियमों के अनुसार किये जाने वाले कर्मो के प्रति व्यक्ति के अज्ञान प्रेरित प्रतिक्रिया के फलस्वरूप उत्पन्न होंते हैं। स्पिनोजा का कहना है कि जिस मनुष्य की प्रकृति स्व निष्ठ है वह संवेगों का अनुभव ही नहीं करता क्योंकि वह स्वयं को सर्वतोभावेन् प्रकृति के अधीन मानता है। स्वतत्र मनुष्य के (Free man) संबन्ध में स्पिनोजा की धारण का आशय यह है वही सच्चे अर्थो में स्वतंत्र है जो किसी प्रकार के सवेग का अनुभव नही करता, यदि करता भी है तो शुभ के संवेग का जिसे वह सक्रिय संवेग कहता है जो प्रकृति के अनुशासन को शांति और अविकृत भाव से शिरो-धार्य मान लेने में निहित है और किसी प्रकार की प्रतिक्रिया के लिये प्रवृत्त नहीं होता। **सर्व परवशं दुखं सर्वमात्मवश सुखम्**। दूसरे शब्दों में ज्ञान या प्रज्ञा ही वह शक्ति है जो हमारे अज्ञान जन्य संवेगों को उत्पन्न होने से रोकती है, क्योंकि संवेग ही हमारी स्वतंत्रता में बाधक है।

---

१. गीता ३/२७

ह्यूम ने तपस्या, दया, नम्रता, पश्चात्ताप तथा लज्जा को साधुजनों के चित का सद्गुण कहा था किन्तु इन सद्गुणों के प्रति स्पिनोजा का कोई आदर भाव न था, जो महज इसलिए कि ये सद्गुण मनुष्य की दुर्बलता के सूचक हैं तपस्या इसलिए निंदनीय है कि इसके द्वारा मनुष्य प्रकृति के आदेशों की अहवेलना करना चाहता है अर्थात् प्रकृति से ऊपर उठना चाहता है। दया इसलिए अवांछनीय है कि यह प्रकृति के विधान के द्वारा पीड़ित दुःखी मनुष्य के प्रति अपनी सहमति व्यक्त करना है। यहां स्पिनोजा अपने नियतत्ववाद की पराकाष्ठा पर पहुंच जाता है कि मनुष्य का सद्गुण यही है कि वह प्रकृति के विधान का रंचमात्र भी प्रतिकार न करे बल्कि उसे शिरोधार्य समझे। (We must see things as they are and not as we are or nothing is good nothing is bad. our thinking makes it so.

इस प्रकार स्पिनोजा के नैतिक के लक्षण सद्गुण नहीं है बल्कि शरणागति के द्वारा स्वयं को ईश्वर की मर्जी पर छोड़ देना है। इसी को स्पिनोजा का ईश्वर के प्रति बौद्धिक प्रेम कहा गया है।

गीता में इस भाव को इस प्रकार व्यक्त किया गया है:—

पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पितामहः
गतिर्भर्ता प्रभु साक्षी निवासः शरणं सुहद् ॥

ईश्वर इस जगत् के माता, धाता, पितामह, गतिभर्त्ता, प्रभुसाक्षी, शरण एवं सुहृद् सब कुछ है, अतः ईश्वर में इस प्रकार का भाव रखना सर्वभाव से ईश्वर शरणागति है, ईश्वर से अटूट सम्बन्ध स्थापित करना है। जो स्पिनोजा के ईश्वर के प्रति बौद्धिक प्रेम (Intllectual love of god या god intoxicated) प्रमत होना है[1]।

अब स्पिनोजा के अतिशय नियतत्ववाद पर विचार करें, स्पिनोजा कहते है कि घटना ईश्वर की अदम्य प्रकृति का प्रकाशन है। घटनायें जिस रूप में घटित

---

१. डा० राधाकृष्णन् गीता ३/२६ पर टिप्पणी

होती हैं उससे भिन्न अन्य प्रकार से घटित हो ही नहीं सकती। इस घोर नियतत्व-वाद पर कटाक्ष करते हुए स्पिनोजा के किसी आलोचक ने प्रश्न किया कि तब तो नीरो ने अपनी मां को मार कर अच्छा काम किया अथवा आदम ने वर्जित सेब को खाकर अच्छा काम किया इस पर स्पिनोजा का उत्तर था दोनों घटनायें अपनी जगह उचित हैं ये हमें अनुचित इसलिए लगती हैं कि हम अपनी सीमित बुद्धि के कारण अंश को पूर्ण से हटाकर देखते हैं। घटनायें अपनी पूर्णता में सही और उचित होती हैं। क्योंकि ईश्वर पूर्ण एवं अनन्त है। उसकी अनन्तता के परिपेक्ष्य में उक्त दोनों घटनाएं जगत् प्रवाह का आवश्यक भाग रही होंगी। गीता में इस सिद्धान्त का सहयोगी सिद्धान्त निम्न श्लोक में व्यक्त किया गया है[1] :—

बहूनि में व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप ॥

श्री कृष्ण कहते है यद्यपि उनके (श्री कृष्ण) और अर्जुन के कई जन्म बीत चुके हैं, किन्तु चूंकि श्री कृष्ण प्रभु होने के कारण असीम दृष्टि सम्पन्न है और मनुष्य होने के कारण अर्जुन की दृष्टि सीमित है (fnite or limited) अतः अर्जुन घटना को अपनी पूर्णता को जान पाने में असमर्थ है।

संकल्प स्वातंत्र्य के समर्थकों का दावा है कि मनुष्य में संकल्प शक्ति है और वह इस शक्ति का प्रयोग करके प्रकृति से ऊपर उठ सकता है महाभारत में इस विचार का खण्डन किया है यथा[2] :—

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः।
जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः ॥

त्वया हृषीकेश हृदिस्थितेन।
यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि ॥

अर्थात् धर्म क्या हैं यह मैं अच्छी तरह जानता हूं परन्तु मेरी धर्म में प्रवृत्ति

१. गीता ६-१० एवं १५
२. गीता ४-५

ही नहीं होती, अधर्म क्या है, यह भी मैं अच्छी तरह जानता हूं किन्तु इससे मेरी निवृत्ति नहीं हो पाती अत: मैं तो यही जानता हूं ईश्वर मेरी अन्तरात्मा में बैठकर जैसा मुझसे कराते है मैं वैसे ही करने को विवश हूं।

इसी को सकारात्मक रूप में गीता में कहा हैं :—

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यते ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोदयति ॥

अठारहवें अध्याय में गीता का उपदेश समाप्त कर चुकने पर श्री कृष्ण अर्जुन को आगाह करते हुए कहते हैं कि इतना उपदेश सुनने के बाद भी यदि वो अहंकारवश यह मान ले कि वह युद्ध नहीं करेगा तो उसका व्यापार मिथ्या कहा जायेगा क्योंकि प्रकृति उसे बरबश युद्ध कार्य में उलझा देगी[1]।

इसी नियतत्व सिद्धान्त को कुछ अन्य प्रकार से कठोपनिषद् में भी व्यक्त किया गया हैं:—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष
आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥

नैतिकता की मान्यता है कि आत्मा का ज्ञान या आत्मसाक्षात्कार में ही नैतिक जीवन की पूर्णता है, लेकिन आत्मा का ज्ञान मानव साध्य से बाहर है। ज्ञान के प्रवचन, बुद्धि तथा शास्त्र ज्ञान आदि किसी भी स्रोत से आत्मज्ञान पाना सम्भव नहीं। आत्मा ही यदि किसी पर कृपा कर अपने ज्ञान के लिए चुन ले तो उसे ही आत्म-ज्ञान सम्भव हो सकता है। गोस्वामी तुलसीदास जी के शब्दों में:—

सो जानइ जेहि देउ जनाई ।
जानत तुमहि तुम ही होईजाई ॥

---

१. महाभारत

वही आत्म रूप ईश्वर को जान सकता है जिसे वह अपने ज्ञान के लिए स्वयं चुनता है और ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति की श्रुति के अनुसार ज्ञाता ज्ञेय हो[1] जाता है।

गीतोक्त कर्म–सिद्धान्त

यद्यपि गीता का समग्र ज्ञान कर्मयोग या कर्म सिद्धान्त की परिधि में आबद्ध है। लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने कर्म को ही गीता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय सिद्ध किया है उन्होंने अपने मन्तव्य की सिद्धि में एक श्लोक उद्धृत किया है:—

उपक्रमोपसंहारौ अभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिंगं तात्पर्य निर्णये ॥

अर्थात् ग्रन्थ के तात्पर्य का निर्णय करने के लिए ये सात चिन्ह हैं:— उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद, और उपपत्ति–तिलक के मतानुसार गीता में मनुष्य को निष्काम कर्म करके कर्मों की निष्कामता के स्तर तक ले जाने की विधि बताई गई है यथा:—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोको ऽयं कर्म बन्धन:।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंग: समाचर ॥

यज्ञ अर्थात् विष्णु के निमित किया गया कर्म ही प्रशस्त कर्म है, इससे इतर कर्म मनुष्य को कर्मों के बन्धन में डलने वाले होते हैं। इस प्रकार के कर्म आसक्ति रहित हो जाते हैं इस प्रकार के ईश्वरार्पण बुद्धि से किये गये कर्मों के अभ्यास से प्रकृति प्रशिक्षण प्राप्त करके कालान्तर में स्वत: ही अनासक्त भाव से मनुष्य के कर्मों में ढलने लगती है[2]। पुन: कालातिक्रम से कर्मों के करने से निष्प्रयोजन वाला हो जाता है जो निष्काम कर्म का पूर्वाभ्यास बन जाता है। बड़े-२ राजा जनक सरीखे राजर्षि इसी प्रकार विधेयता को प्राप्त हुए हैं जो केवल लोक संग्रह के निमित्त

---

१. गीता १८–५६

२. कठोपनिषद् १-२-३

अनासक्त कर्म करते रहे किन्तु जल में कमल के समान उन कर्मों के आधान रूप संसार से निर्लिप्त रहते हुए जिए।

गीता में राजाजनक जैसे निष्काम कर्मयोगी राजर्षि को जनलोकादर्श बताकर सामान्य लोगों को उनके आदर्श पर चलने की सम्मति दी गई है यथा:—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तद् तदेवेतरो जनः।
सःयत्प्रमाणं कुरुते लोक स्तदनुवर्तते॥

अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष जैसे आचरण करते हैं, सामान्य लोग उनका अनुसरण करते हैं, श्रेष्ठजनानुवर्तित मार्ग इतर लोगों के पथ का प्रदर्शन करने वाला बन जाता है। यह श्लोक उन सभी सिद्धांतों का खण्डन कर देता है जो संकल्प स्वा—तन्त्र्य की बात करते हैं। इस श्लोक में व्यक्तिपूजा का आदर्श निहित है[1]।

महाजनो येन गतः स पन्था॥

की बात सुझाई गई है। हर व्यक्ति अपने नैतिक पथ को नहीं निरूपित कर सकता है।

गीता में नियतत्ववाद संवादी कर्म—सिद्धान्त

गीता वर्णव्यवस्था का कट्टरता से समर्थन करती है। स्वयं श्री कृष्ण ने अपने ईश्वर रूप में वर्ण व्यवस्था की स्थापना का दायित्व अपने ऊपर लिया है:—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं[2]। इस वर्ण व्यवस्था में भी सकारक रूप से क्षत्रिय वर्ण की महिमा का गुण—गान किया गया है, यद्यपि ब्राह्मण वर्ण की सर्वोच्चता पर किसी प्रकार का आघात नहीं किया गया है, तथापि क्षात्र धर्म को महिमा मण्डित किया ही गया है। छटे अध्याय में किं पुन ब्राह्मणा पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा[3]" कह-कर ये प्रसंग उठाया गया है कि यदि ईश्वर को भजने से स्त्री वैश्य शूद्र आदि निम्न योनियाँ भी परम गति को प्राप्त कर लेती हैं तो फिर पुण्यशाली ब्राह्मणों तथा

---

१. बाल गंगाधर तिलक: गीता रहस्य
२. गीता ३-५
३. गीता ३-६

भक्त राजर्षियों का तो कहना ही क्या हैं। एक अन्य स्थल पर क्षत्रिय वंशज के रूप में अर्जुन की प्रशस्ति की गई है कि: "मा शुचः सम्पदा दैवी माभिजातो" असि पाण्डव[1]" अर्थात् हे अर्जुन, चिन्ता न कर तू दैवी गुणों के सहित अभिजात वश (क्षत्रिय वंश) में पैदा हुआ है भाव यह है कि वीर अर्जुन क्षुद्र आसुरी स्वभाव के वशीभूत नहीं हो सकता। अतः अर्जुन को स्वधर्म का पालन करने की सलाह दी गई है और कहा गया है संसार के सभी धर्म कुछ दोष से ग्रस्त हैं। परन्तु फिर भी अपना गुणहीन धर्म त्याज्य नहीं होना चाहिए। मनुष्य अपने सब धर्म मे विहित कर्मों को निष्ठापूर्वक सम्पन्न करके मोक्ष रूप सिद्धि को प्राप्त कर लेता है। एक क्षत्रिय का अपने स्वधर्म रूप युद्ध कर्म के द्वारा ईश्वर की पूजा ही उसकी ओर से सच्ची पूजा है।

यथा — 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धि विन्दति मानव."[2]।

गीता के अठारहवें अध्याय में ४१ वें श्लोक तक चारों वर्णों के लिए नियत कर्म बतलाये गये हैं और ४५ वें श्लोक से लेकर ४८ वें श्लोक तक स्वधर्म पालन की महत्ता बताई गई है और कहा गया है— "स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धि लभते नर."[1]।

अर्थात् अपने-अपने वर्णश्रमोचित कर्तव्यों का निर्वाह करते हुए मनुष्य परम् सिद्धि को प्राप्तकरता है। यही कर्म सिद्धान्त का नियतत्व है। ये नियतत्व गीता के उपदेशों के उपसंहार के समय अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच जाता है जब अर्जुन को अधिनायकता के स्वरों में पूछाजाता है।

> कच्चिदेत तच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा[3]।
> कच्चिदज्ञान सम्मोह प्रणष्टते धनंजय ॥

अर्जुनका प्रतिवचन होता है।

> नष्टो मोहः स्मृति लेब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
> स्थितो अस्मि गत संन्देह करिष्ये वचनं तव ॥

---

१. गीता ३-६

२. गीता

३. गीता

अर्थात् कृष्ण के इन गीतोक्त वचनों को सुनकर उसका अर्जुन का स्वजन मरण रूप मोह नष्ट हो गया है और उसके अन्दर यथार्थ कर्तव्य बुद्धि जग गई है, वह अब युद्ध के लिए उद्यत है और उनके (श्री कृष्ण) के वचनों को मानकर युद्ध[1] करेगा। अतः गीता में स्वतंत्र संकल्प शक्ति के स्थान पर अधिनायकवाद (Authoritarcanism) की प्रशस्ति की गई है :

गीता में व्यक्ति स्वातंत्र्य

ऊपर के परिच्छेदो में गीतोक्त कर्म-सिद्धान्त का मुख्य स्वर नियतत्वाद (Determinism) तथा अधिनायकवाद (Authoritarianism) का स्वर ही मुख्य रूप से मुखरित हुआ है अतः व्यक्ति स्वातंत्र्य के लिए यहां अवकाश नहीं है। यद्यपि गीता के उपदेश की परिसमाप्ति पर अर्जुन को अपना विकल्प प्रयोग करने के लिए कहा गया है "विमृश्यैतदशेषेण यथैच्छसि तथा कुरू"[2] अर्जुन मेरे द्वारा वर्णित इस परम् गोपनीय ज्ञान पर अच्छी प्रकार सोच विचार करो फिर तुम्हें जो रूचे, वही करो। श्री कृष्ण का यह कहना केवल उलाहना मात्र हैं। यह उनके भीतर के ईश्वर की उन्मुक्त अभिव्यक्ति नहीं है। डा० राधाकृष्णन गीता के इस श्लोक पर कि 'प्रकृति यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति"[3]। पर अपनी टिप्पणी देते है कि हम कितना भी चाहें अपनी प्रकृति से स्वतंत्र नहीं हो सकते, यदि होंगे तो दमित प्रकृति हम से बदला ले लेगी। यदि मनुष्य को नैतिक बनना ही है तो उसे निरन्तर अभ्यास के द्वारा अपनी प्रकृति को पूर्णता की ओर ले जाना होगा, प्रकृति में सुधार या प्रकृति में पूर्णता मन को काम वर्जित करने से होगा जैसाकि योग वाशिष्ठ में भी कहा गया है—'अशुद्धं काम सम्पृक्तं शुद्धं काम विवर्जितम्'[4]। इसी पर घोर नियतत्ववादी स्पिनोजा और कट्टर संकल्प स्वातंत्र्यवादी काण्ट ने अपने-२ ढग से बल

---

१. गीता ६-३३

२. गीता १६-५

३. गीता १८-४

४. गीता १८-४५

दिया है स्पिनोजा काम अर्थात् (Passion) को प्रज्ञा या (Understanding) के द्वारा जीतने पर बल देते हैं काण्ट वासना पर बुद्धि के वर्चस्व को बढ़ाने पर बल देते हैं। गीता में निष्काम कर्म करने के द्वारा प्रकृति के सुधार की बात कही गई है। काट चित्त की सदाशयता (Good will) को नैतिकता की आदि और अन्तिम सत्ता मानते हैं कि (Ultimate Principle of goodness) लेकिन इस सदिच्छा की तत्व मीमांसा क्या है, ये उन्होंने स्पष्ट नहीं किया। केवल सत्कर्म के स्रोत के रूप में सदिच्छा (Good will) की अस्तित्व को उन्होने माना हैं। लेकिन सदिच्छा या सत्संकल्प और बुद्धि को भारतीय शास्त्रों में नितान्त पृथक् तत्व माने हैं योग वशिष्ठ का मत है:—

जीवनाज्जीवतां याता मननाच्च मन: स्थिता।
संकल्पाच्चैव संकल्पा बोधाद् बुद्धिरिति स्मृता॥

अर्थात् जीवन से जीव स्वरूप को मनन से मानसिकरूप को संकल्प से संकल्पता इच्छा रूपता को और बोध बुद्धि का स्वरूप है काण्ट कृत शक्ति का स्रोत संकल्प को और ज्ञान शक्ति का स्रोत बुद्धि को मानते हैं। इस प्रकार उनके नैतिक सिद्धान्त में कृत और संविदित का द्वैत है। गीता में आनुपूर्विक क्रम से ज्ञान के उत्तरोत्तर स्तर दिखाये गये हैं यथा:—

इन्द्रियाणि पराण्याहु रिन्द्रियेभ्य परं मन:।
मनसस्तु पराबुद्धि र्यो बुद्धे, परस्तु स:॥

ज्ञान की स्थूल इकाइयां इन्द्रियां मानी गई है, इन्द्रियों से सूक्ष्म मन है मन से सूक्ष्म बुद्धि है बुद्धि से भी सूक्ष्म वह (आत्मा) है। बुद्धि और उसके अवान्तर तत्व प्रकृति से उत्पन्न होने से विकारी हैं केवल आत्मा अविकारी है। अत: आत्मा के द्वारा निम्न आत्मा का नियंत्रण या सुधार संभव है।

इन्द्रियाणि मनो बुद्धि रस्याधिष्ठानमुच्यते।
एते विमोहयत्येष ज्ञान मावृत्य देहिनम्॥

इन्द्रियां मन बुद्धि वासनाओं का आश्रय स्थान है। ये निर्मल आत्मा पर भी

आवरण डाले हुए हैं अतः संकल्प शक्ति के स्रोत मन बुद्धि आदि वासनाओं से मलिन एवं विकृत है, अतः इनके स्तर से शुद्ध एवं निष्कल ज्ञान तथा कृति संभव नहीं है। फलतः प्रकृति में सुधार आत्मा से निम्न स्तरों द्वारा होना संभव नहीं है योग वाशिष्ठ में कहा गया है:—"भवात्मैव त्वमात्मना" तुम अपनी निम्न आत्मा को शुद्ध आत्मा से तदाकार कर लो (यही मोक्ष है) तथा. योअस्ति कल्पित सवृत्या परमार्थेन नास्त्यसो"। विषय एवं विषयिता की कल्पना मानसिक विकार मात्र है। परमार्थ में कोई भेद या विकार नहीं है।

अतः जिस किसी दृष्टिकोण से विचार करें संकल्प स्वातन्त्र्य का विचार गीता की दृष्टि में अप्रतिष्ठित है। हर बात घूम फिर कर कर्म—सिद्धान्त की परिधि में जा बैठती है।

अंत में यह बता देना पर्याप्त होगा कि यदि मान भी लिया जाए कि कर्म सिद्धान्त का नियतत्वाद ही बलिष्ठनैतिक सिद्धान्त है तथापि यदि नीतिशास्त्र का अन्तिम लक्ष्य आत्मा पूर्णता है तो मानना पड़ेगा कि नीति सिद्धान्त का एक गलियारा ऐसा खुला हुआ जहां से नियतत्वाद और संकल्प स्वातंत्र्य का परस्पर आदान-प्रदान रूप व्यापार चलता है अर्थात् नियत तत्ववाद संकल्प स्वातंत्र्य की सहायता से आत्म पूर्णता को प्राप्त कर सकता है। जिसका गीता में संकेत मिलता है:—जहिशत्रुं 'महाबाहो काम रूपं दुरासदम्"। अर्थात् हे महाबाहु अर्जुन। तु अत्यन्त दुर्विजेय काम वासना रूप शत्रु को पछाड़ दो।

जैन दर्शन में कर्म सिद्धान्त एवं व्यक्ति-स्वातन्त्र्य

लेखक : डा० जयकिशन प्रसाद खण्डेलवाल
निदेशक : कुन्द कुन्द भारती
नई दिल्ली

य: स्मर्यते सर्वमुनीन्द्रवृन्दै:
य: स्तूयते सर्वनरामरेन्द्रै:
यो गीयते वेद-पुराण-शास्त्रै:
स: देव देवों हृदये ममास्ताम् ।। आचार्य अमितगति, द्वात्रिंश-१२

कर्म प्रधान विश्वरचिराखा-प्रश्न यह हैं कि कर्म करने में व्यक्ति को कितनी स्वतन्त्रता है। इसे हम दैव और पुरुषार्थ द्वारा व्यक्त कर सकते है। कभी दैव प्रधान हो जाता हैं और उसके सामने पुरुषार्थ नगण्य हो जाता है और कभी पुरुषार्थ प्रबल हो जाता है और तदनुरूप कर्म बन जाते है। कभी एक आगे और कभी दूसरा आगे रहता हैं।

उत्साहवन्त: पुरुषा नावसीदन्ति कर्मसु ।
नीतिशास्त्र विशारदों कहा है:—

उत्साह: पौरुषो धैर्य बुद्धि:शक्ति: पराक्रम: ।
षडेते यत्र वर्तन्ते तत्र दैव: सहायक: ।।

पुरुपार्थी सदा सुखी। पुरुषार्थ पुरुष का क्रम है, उपार्जित सम्पत्ति हैं जो पुरुषार्थ के मार्ग पर प्रवृत रहता है, वह दुःखी नहीं होता "पुरुपार्थी नानसीदति"। पुरुषोचित कार्यों को करते हुए ही सौ वर्ष जीवित रहने का संकल्प करने वालों ने यहां बहुत काम किये है। दैव को "अकृष्ट" मानकर उस पर निर्भर नहीं रहना चाहिए। कि श्री अमितगति सूरि ने लिखा है:—

स्वयं कृत्रा कर्म यदात्मना पुरा
फलं तदीयं लभते शुभाशुभंम् ।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं
स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा ।।

निजार्जितं कर्म विहाय देहिनो न
कोऽपि कस्यापि ददाति किंचन।
विचारयन्नेवमनन्यमानसः परो
ददासीति विमुंच शेमुषीम् ॥

अपने पुरुषार्थ के अतिरिक्त कोई किसी को नहीं देता है। ऐसा विचार करते हुए मनुष्य को दूसरा कोई देने वाला है, इस मिथ्या दृष्टि को छोड़ देना चाहिए।

दैव और पुरुषार्थ की परिकल्पना—

दैव का सन्धि विच्छेद है द+एव। अर्थात् जिससे दयनीयता, दु.ख, दैन्य और दे दे दीजिए, दीजिए। ऐसी ध्वनि निकले। "दैव" वास्तव में विपन्नाधार कोष हैं। और "पुरुषार्थ" में पुंस्त्व की ध्वनि है। इसका आद्य अक्षर "प" परिश्रम प्रवृति और परमात्मपद प्रतिष्ठा कावाचक है। "प" परायण है, 'द' दयनीय है। "प" से आगे यदि "द" की प्रतिष्ठा की जाए तो प+द=पद ध्वनित होता हैं और उसका अर्थ प्रतिष्ठा, उत्कर्ष होता है अर्थात् पुरुषार्थ मूलक दैव की परिकल्पना तो श्लाघ्य है किन्तु दैव को प्रमुख मानकर पुरुषार्थ को गौण करने से व्यक्ति का व्यक्तित्व बिना तपाये स्वर्ण के समान दैव की खान में पड़ा-पड़ा अपने शुभोदय की बेला की प्रतीक्षा ही करता रहता है। "भाग्य" उदासीन शब्द है। उसके पूर्व में "सु" लगाने से सौभाग्य और 'दुर्" लगाने से "दुर्भाग्य" सूचित होता है। श्रम की प्रतिष्ठा करने वाले के हिस्से में 'सौभाग्य" शब्द आता है और नित्य नियतिदुर्गत तो "दुर" को ही पा सकता है। पुरुषार्थ निश्चित सफलता का पर्याय है और दैव संदिग्ध स्थितियों का निर्देशक है। बुद्धिमान् व्यक्ति निश्चित फलदायी मार्ग को छोड़कर सन्देह में प्रवृत्त नहीं होता। अतः पुरुष का उत्थान उसके पुरुषार्थ अथवा दैवमूलक कार्यकलापों की पद्धति देखकर अनुमान किया जा सकता है। पुरुषार्थ दैव दोनों ही कार्य की सफलता के कारण है। दैव शुभाशुभ कर्मों से बनता है। वही पुरुषार्थ सिद्धि में प्रतिबन्धक अथवा सहयोगी होकर सफलता तथा असफलता प्रदान करता है। जो पुरुष सर्वत्र शुभकर्म का बन्ध करता है उसे पुरुषार्थ करने पर सद्यः सफलता मिलती है और जो पाप कर्म के बन्ध अधिक करता है वह अधिक पुरुषार्थ करने पर भी उसके अनुकूल

भूरिफलों को प्राप्त नहीं कर पाता। ऐसे पुण्यचारित्र्य और पाप कर्मों के परिणाम पुरुषार्थ करने पर भी दैव के नियन्त्रण में रहते है। जैन परिभाषा में "श्रमण" शब्द का अर्थ श्रम की प्रतिष्ठा है जो साधु है, वे ही सच्चे श्रमण है। अपने चरित्र-श्रम से उत्तम कोटि का पुरुषार्थ करते हुए वे मोक्ष साधना करते है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ हैं। इनमें सभी पुरुषार्थ धर्म को मूल मानकर प्रवृत्त होते है। मनुष्य को छोड़कर शेष प्राणियों में केवल पुरुषार्थ की अथक लगन देखी जाती है। चीटियां निरन्तर अपने बिलों में से मिट्टी के लघु-लघुकण उठाकर बाहर फेंकती रहती है। बाल्मीकि कीट बार-बार अपने बाल्मीकों को उठाता रहता है। महापराक्रमी वनराज भी अपनी क्षुधा शान्ति के लिए प्रकृतिदत्त पुरुषार्थ करता है। परन्तु मनुष्य कदाचित् क्वचित् कथंचित् फलने वाले 'नियतिवाद" को देखकर अपनी अकर्मण्यता से दैवभ्रमी होने की अभिलाषा करने लगता है। यहां पुरुषार्थ और सफलता में 'कार्यकारण" भाव है। सफलता रूपी कार्य पुरुषार्थ की कारणता चाहता है पुरुषार्थ पात्र है और सफलता उसमें रखा जाने वाला पदार्थ:—

"पात्रत्वे क्रियतां यत्नः पात्रमायान्ति सम्पदः"

मनुष्य को पात्रता के लिए प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि पात्र में ही सम्पदाए आती हैं। सफलतारूपी सम्पत्ति अर्जित करने के लिए पुरुषार्थरूपी पात्र की पात्रता आकर्षित है। आप्तमीमांसा में आचार्य समन्त भद्र लिखते है.—

दैवादेवार्थ सिद्धिश्चेद् दैवं पौरुषतः कथम्।
दैवतश्चेद निर्मोक्षः पौरुषं निष्फलं भवेत्॥

यदि दैव से ही कार्यसिद्धि होती है तो फिर पुरुषार्थ की क्या आवश्यकता है और दैव से ही यदि मोक्ष प्रतिबन्ध हुआ करें तो मुक्ति के लिए क्रियमाण पुरुषार्थ निष्फल हो जाएगा। और यदिः

पौरुषादेव सिद्धिश्चेत् पौरुषं दैवतः कथम्।
पौरुषच्चेद मोक्षं स्यात् सर्वप्राणिषु पौरुषम्॥

पुरुषार्थ मात्र से कार्य सिद्धि मान ली जाय तो पौरुष दैव को अव्यर्थ मानना

होगा। किन्तु देखने में आता है कि समान पुरुषार्थ करने वालों को भी तारतम्य से भिन्न फल प्राप्ति होती है। अतः यह मानना चाहिए कि:—

दैववादी और पुरुषार्थवादी में अन्तर:—

दो पात्र समान रूप से आधे-आधे भरे हुए है। उनमें एक भाग्यवादी के हाथ में है और दूसरा पुरुषार्थ परायण के भाग्यवादी अपने भाग्य को कोसते हुए कहता है कि मेरा आधा पात्र खाली हैं किन्तु पुरुषार्थी कहता है कि मेरा आधा पात्र भरा हुआ है, एक निराशावाद से अभिभूत है और दूसरा आशान्वित है। आशाधर उसकी पूर्णता की ओर लक्ष्य करता है और निराश हुआ दैववादी आधे रिक्त होने को रोता है। इस संसार में जन्म के साथ ही पिता, पुत्र, परिवार, सुख, दुःख, भोग क्लेश आदि कर्मानुबन्ध से उदय में आते है। अनन्त मनुष्यों के अनन्त विध कर्म फलोदय को देखकर यह बात अधिक स्पष्ट हो जाती है। इस कार्मण शरीर के परिणामों का भोक्ता मनुष्य यदि दैववाद के चक्कर में पड़ जाता है तो द्वार पर आये हुए पुरुषार्थ के अवसर लौट जाते है। क्योंकि मनुष्य अपने भाग्य का स्वयं विधाता है। एक बूढ़ा व्यक्ति लकड़ी के सहारे चलता है। उसके चलने में लकड़ी उदासीन है। तथापि यदि वह लकड़ी को ही अपने चलने में मुख्य मान लें तो क्या वह उचित है या यदि लकड़ी स्वयं गति दे सकती है तो मृतक को भी उसका अवलम्ब मिल जाता। बिना पुरुषार्थ के भाग्यों का आश्रय लेना भी इसी प्रकार है। वृक्ष के नीचे दूसरा वृक्ष नहीं पनपता और भाग्य के सहारे व्यक्ति का पुरुषार्थ उदग्र नहीं होता। यदि भाग्य में वृक्ष को किसी अन्य वृक्ष की छाया में अंकुरित किया है तो पुरुषार्थ से उसे अलग होकर ही अपनी शाखाओं और स्कन्ध का विकास करना चाहिए। अन्यथा यावज्जीवन वह पूर्ण समुत्पन्न वृक्ष पश्चात् उत्पन्न वृक्ष के ऊंचे उठने में बाधाएं ही उपस्थित करेगा। अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व निर्माण करने वालों ने भाग्य की रेखा को वज्र संकल्पों से मिटा दिया है। उनके उत्थान का सूर्य उनके पुरुषार्थ की मुट्ठी में हैं।

पुरुषार्थी के हाथों में पथ रेखाएं अंकुरित होती है और भाग्यवादी के चक्रवर्ती चिन्ह संशय और प्रतीक्षा के वातावरण में धूमिल हो जाते है। एक निर्माता है और

दूसरा भोक्ता है। एक स्वोपजीवी है दूसरा परोपजीवी। एक आश्रयदाता है दूसरा आश्रयोपेक्षी। मानव अपना निर्माता स्वयं बने इसके लिए पुरुषार्थ परायणता पहली प्रतिज्ञा है। दैव के दुर्ग का ध्वंस करके पुरुषार्थ के प्रसाद का निर्माण किया जाता है। अल्वाट्रास नामक पक्षी महा समुद्रों पर चार अहोरात्र एक गति से उड़ता है और बिना सोये, बिना थके या विश्राम लिये निरन्तर सत्रह सौ मील उड़ान भरता है। जो भाग्यवादी महान कार्यों की विशालता से भीत होकर कहते है कि भुजाओं से समुद्र को किसने तरा है "उनके लिए अल्वाट्रास" पुरुषार्थ का दूसरा नाम है। भाग्य के भरोसे जीने वाला अकिंचित् कार्यों को भी "असम्भव" कहता है और पुरुषार्थ परायण की शब्दावली में आत्म पराजय ध्वनित करने वाला कोई शब्द नहीं है जो कमर बांधकर तत्पर हो जाता है। उसके सामने पृथ्वी अपने विस्तार को सिकोड़ लेती है, समुद्र क्षुद्रनदी प्रमाण बन जाते है, पाताल उठकर पृथ्वी के बराबर आ जाता है और सुमेरू पर्वत मामूली मिट्टी के बाल्मीक (दूहर) के समान हो जाता है। "अभ्यास" नहीं है, यह साहसिकों की भाषा है।

उलूक के भाग्य में दिन में भी अन्धकार है और जुगनू अंधेरी रातों में भी अपना तन जलाकर प्रकाश उत्पन्न कर लेता है। रहट के पात्र भरते और खाली होते रहते है और अनुद्यमी के मस्तिष्क में एक विचार जाता और दूसरा आता रहता है परन्तु उद्यमशील के विचार चोंच के कुएं में डुबकी लगाने वाले कलश के समान जब ऊपर उठते है तो लबालब भरे होते है। उद्यम की रात में देवता जागते हैं और भाग्य के दिन में अकर्मण्य दिवास्वप्न देखते है।

इस प्रकार पूर्व कर्म अपना फल देते है और वर्तमान में कर्म करने में व्यक्ति स्वतन्त्र है।

कर्मवाद तथा व्यक्ति-स्वातंत्र्य

डा० वेद प्रकाश वर्मा

प्रोफेसर, दर्शनशास्त्र-विभाग दिल्ली विश्वविद्यालय

हिन्दू धर्म और दर्शन में कर्मवाद अथवा कर्म-सिद्धान्त का विशेष महत्व है, क्योंकि चार्वाक् दर्शन को छोड़कर अन्य सभी भारतीय दर्शन किसी न किसी रूप में इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। प्रस्तुत निबन्ध में हम कर्मवाद के स्वरूप तथा व्यक्ति-स्वातंत्र्य के साथ उसके सम्बन्ध पर संक्षेप में विचार करेगें। इस संबन्ध में सर्वप्रथम विचारणीय प्रश्न यह है कि कर्मवाद का ठीक-२ अर्थ और उस का वास्तविक स्वरूप क्या है। जैसे कि 'कर्मवाद' शब्द से ही स्पष्ट है, इस का संबन्ध मानव द्वारा किए गये कर्मों तथा उन के परिणामों से है। इस सिद्धान्त के अनुसार, मनुष्य स्वेच्छया अथवा जानबूझकर जो कर्म करता है उन का फल उसे अवश्य प्राप्त होता है। वह अपने जीवन में जो सुख अथवा दुःख भोगता है उसका एक मात्र कारण स्वयं उसी के शुभ या अशुभ कर्म ही होते हैं। मनुष्य अपने कर्मों के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले अनिवार्य परिणामों से कभी नहीं बच सकता। स्वयं उसके कर्म ही उन समस्त सुखद या दुखद पारिवारिक तथा सामाजिक परिस्थितियों को निर्धारित करते हैं जिनमें वह जन्म लेता हैं और अपना जीवन व्यतीत करता है। इस जगत् में विभिन्न मनुष्यों में जो शारीरिक, बौद्धिक, पारिवारिक, सामाजिक तथा आर्थिक असमानताएं पाई जाती हैं वे वस्तुतः उनके अपने कर्मों के कारण ही है। दूसरे शब्दों में, इन समस्त असमानताओं का संपूर्ण उत्तरदायित्व अपने कर्मों के रूप में स्वयं मनुष्यों पर ही है, किसी अन्य शक्ति पर नहीं। इस कर्म-सिद्धान्त को कर्म का नियम' भी कहा जाता है जिस की तुलना प्रायः अनुल्लंघनीय प्राकृतिक नियमों के साथ की जाती है। इस प्रकार कर्मवाद अथवा कर्म-सिद्धान्त के समर्थकों के मतानुसार, मनुष्य अपने शुभ या अशुभ कर्मों के कारण ही इस संसार में सुख अथवा दुःख भोगता है और वह स्वयं ही अपने कर्मों द्वारा अपने भाग्य का भी निर्माण करता है।

कर्म-सिद्धान्त के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए यहां इसप्रश्न पर विचार

वस्तुत: मनुष्य को अपने कर्मों के लिए उत्तरदाई तथा अपने भाग्य का निर्माता तभी माना जा सकता है जब उस के संकल्प-स्वातंत्र्य को स्वीकार किया जाए। इस के अभाव में वह किसी बाह्य शक्ति के हाथों में एक अशक्त मोहरा मात्र बन कर रह जाएगा। ऐसे मनुष्य को हम वास्तविक अर्थ में 'कर्ता' नहीं कह सकते। इस प्रकार मानवीय संकल्प-स्वातंत्र्य का विचार कर्मवाद का अनिवार्य मूल आधार है जिसके बिना इस की युक्तिसंगत व्याख्या नहीं की जा सकती। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि कारण-कार्य का नियम तथा संकल्प-स्वतंत्र्य का विचार ये दोनों ही कर्मवाद की अनिवार्य आधारभूत मान्यताएं हैं जिन के बिना इसे स्वीकार करना सम्भव नहीं है।

यहा यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या कर्मवाद की ये दोनों अनिवार्य मान्यताएं परस्पर विरोधी नहीं हैं। हम देख चुके हैं कि कारण-कार्य के नियम के अनुसार इस जगत् में कुछ भी अकारण नहीं होता-अर्थात् प्रत्येक घटना, विचार तथा कर्म का कोई कारण होना अनिवार्य है। क्या कारण-कार्य का यह नियम मानवीय संकल्प-स्वातंत्र्य में बाधक नहीं है दूसरे शब्दों में, क्या यह नियम भौतिक वस्तुओं तथा घटनाओं की भांति मानवीय कर्मों को भी अनिवार्य नहीं बना देता? वस्तुत: इसी कठिनाई के कारण कुछ विचारकों ने मनुष्य के संकल्प-स्वातंत्र्य का निषेध किया हैं। उनके मतानुसार, मनुष्य अपने किसी भी कर्म को करने के लिए स्वतंत्र नहीं है, क्योंकि वह जो कुछ करता है उस के कुछ अनिवार्य कारण हैं जिन पर उस का कोई नियंत्रण नहीं है। इन कारणों में वंशानुक्रम से प्राप्त कुछ गुणों, नैसर्गिक मूल प्रवृत्तियों, पारिवारिक तथा सामाजिक परिवेश आदि का उल्लेख किया जा सकता है जिन से अनिवार्यत: प्रेरित हो कर मनुष्य प्रत्येक कर्म करता है। परन्तु कारण-कार्य का यह नियम वास्तव में मानवीय संकल्प-स्वतंत्र्य का विरोध नही है, क्योंकि मनुष्य के किसी ऐच्छिक कर्म का कारण कोई बाह्य बाध्यता न होकर स्वयं उस का अपना संकल्प या निर्णय ही होता है। यही सकल्प मनुष्य के ऐच्छिक कर्मों को समस्त भौतिक वस्तुओं तथा घटनाओं से पृथक् करता है जो केवल कुछ अनिवार्य प्राकृतिक कारणों द्वारा शासित होती हैं। जब मनुष्य कोई ऐच्छिक कर्म करता है तो निश्चय

ही वह अकारण नहीं होता- अर्थात् उसका कोई न कोई कारण अवश्य होता है। परंतु यह कारण मनुष्य से बाहर नहीं, अपितु स्वयं उस के भीतर ही विद्यमान रहता है। इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य ऐच्छिक कर्म स्वयं अपनी इच्छा से प्रेरित हो कर करता है, किसी बाह्य शक्ति द्वारा बाध्य हो कर नहीं। इसी कारण उसे इस कर्म को करने या न करने के लिए स्वतंत्र समझा जाता है। इस दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्मवाद की उपर्युक्त दोनों आधारभूत मान्यताओं में वस्तुतः परस्पर कोई विरोध नहीं है। इस के विपरीत ये दोनों मान्यताएं कर्मवाद की वे आधार—शिलाएं हैं जिन पर सिद्धान्त स्थापित किया गया है। इस सिद्धांत के समर्थक संभवतः यह अनुभव करते थे कि कारण-कार्य का नियम और संकल्प स्वतंत्र्य नैतिकता की मूल शर्तें हैं जिन्हें अस्वीकार करने का अर्थ है सम्पूर्ण नैतिकता का निषेध करना है इसी कारण उन्हीं ने इन दोनों को कर्मवाद की अनिवार्य आधार-शिलाओं के रूप में स्वीकार किया है और ऐसा करने में वस्तुतः कोई असंगति भी प्रतीत नहीं होती।

उपर्युक्त दो आधारभूत मान्यताओं के अतिरिक्त हिन्दू धर्म में आत्मा की अमरता और पुनर्जन्म से संबंधित विश्वास को भी कर्मवाद के साथ प्रायः संबद्ध माना जाता है। अधिकतर भारतीय दर्शन कर्म—सिद्धान्त की व्याख्या के लिए आत्मा की अमरता और पुनर्जन्म के विश्वास को अनिवार्य मानते हैं। यद्यपि ये दर्शन आत्मा के स्वरूप की भिन्न—भिन्न व्याख्याएं करते हैं फिर फिर भी ये सभी इस मत का समर्थन करते हैं कि आत्मा अमर है और उसे अपने कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है। इन दर्शनों के अनुसार, मनुष्य को उस के समस्त कर्मों का फल केवल एक ही जन्म में प्राप्त नही हो जाता, वह इस संसार में बार—बार जन्म लेकर अपने कर्मों का फल भोगता है। यहां यह उल्लेखनीय है कि आत्मा की अमरता में विश्वास न करने वाले बौद्ध दार्शनिक भी इसी मत को स्वीकार करते हैं। उनका विचार है कि मनुष्य अपने कर्मों के अनुसार इस जगत् में बार-२ जन्म लेता है। इस प्रकार यह कहना संभवतः अनुचित न होगा कि अधितर भारतीय दार्शनिक आत्मा की अमरता तथा पुनर्जन्म इन दोनों को कर्मवाद के साथ घनिष्ट रूप से संबध मानते हैं। परन्तु इस सम्बन्ध में

इस्लाम, ईसाई धर्म और यहूदी धर्म का मत कुछ भिन्न है। ये सभी धर्म किसी न किसी रूप में आत्मा की अमरता और कर्म-सिद्धान्त का तो समर्थन करते हैं, किंतु ये पुनर्जन्म में विश्वास नहीं करते। इन धर्मों के अनुयाई यह तो मानते हैं कि मनुष्य को अपने कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है, परन्तु उनका विचार है जिन कर्मों का फल उसे इस जीवन में प्राप्त नहीं होता उनका फल भोगने के लिए उसकी आत्मा को अंतिम निर्णय के दिन तक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। उस दिन सभी मनुष्यों की आत्माओं को ईश्वर के समक्ष प्रस्तुत किया जाएगा जो उन्हें उन के शुभ या अशुभ कर्मों के अनुसार स्वर्ग अथवा नरक में भेज देगा। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ये तीनों धर्म पुनर्जन्म के विचार को स्वीकार न करते हुए भी आत्मा की अमरता और कर्मवाद में अवश्य विश्वास करते हैं। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए हम यह कह सकते हैं कि हिंदू धर्म, जैन धर्म तथा बौद्ध धर्म की भांति इस्लाम, ईसाई धर्म और यहूदी धर्म में भी कर्म-सिद्धान्त का बहुत महत्व है।

यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि जिस रूप में भारतीय विचारकों ने कर्मवाद की व्याख्या की है उस रूप में यह सिद्धान्त यदृच्छावाद तथा नियतिवाद या दैववाद इन दोनों सिद्धान्तों से भिन्न है। यदृच्छावाद के अनुसार, इस जगत् में घटित होने वाली समस्त घटनाएं केवल संयोग का ही परिणाम होती हैं उन का कोई कारण नहीं होता। हम यह नहीं बता सकते कि कोई घटना जिस रूप में घटित हुई है वह उसी रूप में क्यों घटित हुई है। इसी प्रकार हम किसी घटना के घटित होने के विषय में कोई भविष्यवाणी भी नहीं कर सकते। स्पष्ट है कि यदृच्छावाद जगत् में होने वाली समस्त घटनाओं को केवल संयोग का परिणाम मान कर कारण-कार्य के नियम को पूर्णतः अस्वीकार करता है। परन्तु जैसा कि हम ऊपर देख चुके है, कर्मवाद मूलतः इसी नियम पर आधारित है, अतः वह यदृच्छावाद का खंडन करता है। कर्म-सिद्धान्त के अनुसार, इस विश्व में कोई भी घटना केवल संयोग के फलस्वरूप घटित नहीं होती, प्रत्येक घटना का कोई निश्चित कारण होना अनिवार्य है। ऐसी स्थिति में कर्मवाद को यदृच्छावाद से मूलतः भिन्न मानना आवश्यक है।

इसी प्रकार कर्म-सिद्धांत नियतिवाद अथवा दैववाद से भी भिन्न है। नियति-वाद के अनुसार, इस विश्व में घटित होने वाली प्रत्येक घटना पूर्व निश्चित होती है, उसे घटित होने से रोकना अथवा उस में कोई परिवर्तन करना मनुष्य के लिए संभव नहीं है। हम इस जगत् में जो सुख या दुःख प्राप्त करते हैं वह सब पूर्वनिर्धारित हैं, हम इसमें किसी प्रकार का परिर्वतन नहीं कर सकते। नियति द्वारा पूर्वनिर्धारित घटनाओं को परिवर्तित करने का सम्पूर्ण प्रयास नितांत व्यर्थ है। इस प्रकार नियति-वाद मनुष्य को कर्म करने में स्वतंत्र न मान कर नियति अथवा भाग्य के हाथों में एक मोहरा मात्र मानता है जो स्वयं अपने लिए तथा दूसरों के लिए कुछ भी करने में असमर्थ है। कर्मवाद के विषय में ऊपर जो कुछ कहा गया है उस से यह स्पष्ट है कि यह सिद्धान्त नियतिवाद की उपर्युक्त मान्यता को पूर्णतः अस्वीकार करता है। हम देख चुके हैं कि कर्मवाद के अनुसार मनुष्य स्वयं ही अपने भाग्य का निर्माता है, वह नियति के हाथों में कोई मोहरा मात्र नहीं है। इसी कारण अपने भाग्य के निर्माण के लिए किए गए उसके प्रयास का विशेष महत्व है। वह अपने कर्मों द्वारा अपने वर्तमान तथा भावी जीवन में मनोवांछित परिवर्तन कर सकता है। इस प्रकार कर्म-सिद्धान्त यदृच्छावाद की भांति नियतिवाद का भी खंडन करता है। वह कारण-कार्य के नियम को स्वीकार करते हुए भी मनुष्य को अपने भाग्य-निर्माण के लिए कर्म करने में स्वतंत्र मानता है। संक्षेप में कर्मवाद के समर्थकों का विचार है कि मनुष्य इस संसार में जो कुछ प्राप्त करता है वह न तो अकारण है और न नियति द्वारा पूर्व-निर्धारित, वस्तुतः वह तो स्वयं उस के कर्मो का ही अनिवार्य परिणाम है।

अब संक्षेप में उपर्युक्त कर्मवाद की कुछ दार्शनिक समस्याओं तथा व्यावहारिक कठिनाइयों पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। इस सिद्धांत की प्रथम दार्शनिक समस्या यह है कि इस के समर्थक शरीर तथा आत्मा के सम्बन्ध की कोई संतोषप्रद व्याख्या नहीं कर पाते जो इसे स्वीकार करने के लिए अनिवार्य है। कर्म को आत्मा के साथ शरीर के सम्बन्ध का कारण नहीं माना जा सकता, क्योंकि इन दोनों के सम्बन्ध के अभाव में कर्म असम्भव है इस का अर्थ यह है कि कर्म से पूर्व ही शरीर और आत्मा का सम्बन्ध अनिवार्य है, अतः कर्म इस संबंध का कारण नहीं हो सकता

ऐसी स्थिति में आत्मा तथा शरीर के उस संबंध का मूल कारण क्या है जिस के फल-स्वरुप कर्म सम्भव हुआ ? जहां तक मुझे ज्ञात है, भारतीय दार्शनिक इस महत्वपूर्ण प्रश्न का कोई युक्तिसंगत एवं संतोषजनक उत्तर नहीं दे सके। फिर यहां कर्मवाद के सम्बन्ध में यह प्रश्न भी उठाया जा सकता है कि काल की दृष्टि से जीवों तथा कर्मों में से किस का अस्तित्व पहले था। कर्मो का अस्तित्व जीवों के अस्तित्व से पहले नहीं हो सकता, क्योंकि जीवों के बिना कर्म सम्भव नहीं है। परन्तु जीवों का अस्तित्व भी कर्मो के अस्तित्व से पहले नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा मानने का अर्थ यह होगा कि कर्मों से पूर्व ही इस संसार में सभी जीव थे जिन मे असमानताएं विद्यमान थीं। ऐसी स्थिति मे जीवों में पाई जाने वाली असमानताओ की व्याख्या के लिए कर्म-वाद की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाएगी। इन दार्शनिक समस्याओं के अति-रिक्त कर्मवाद के समथक इस महत्वपूर्ण प्रश्न का भी कोई युक्तिसंगत उत्तर नही दे पाते कि शुभ कर्म' तथा 'अशुभ कर्म' का ठीक-ठीक अर्थ क्या है जिनके कारण मनुष्यों को इस संसार में सुख और दुःख प्राप्त होता है। 'शुभ' और 'अशुभ' के विषय में दार्शनिकों द्वारा दीर्घकालीन चिंतन के पश्चात भी कोई एक निश्चित एवं सर्वमान्य मानदंड स्वीकार नहीं किया जा सका है, अतः निश्चयपूर्वक यह कहना अत्यत कठिन है कि कौन-सा कर्म शुभ है और कौन सा अशुभ ? इसी प्रकार कर्मवाद के समर्थक इस समस्या का भी कोई समुचित समाधान नहीं कर पाते कि मानवीय कर्मों के परिणामों का निर्धारण कौन करता है, सीमित तथा अल्पज्ञ होने के कारण मनुष्य स्वयं ऐसा नही कर सकता। इसके अतिरिक्त यदि मनुष्य स्वयं अपने कर्मो के परिणामों का नियामक होता तो वह इन कर्मो से ऐसे परिणाम कभी न उत्पन्न होने देता जो उस के लिए दुखद है। इस संबध में 'अदृष्ट' तथा 'अपूर्व' की जो अवधा-रणाए प्रस्तुत की गई हैं उनमें अनेक दार्शनिक कठिनाइयां हैं जिनके कारण कुछ विचारकों ने ईश्वर को ही कर्मों के परिणामों का नियामक अथवा नियता मान लिया हैं। परंतु ईश्वर का अस्तित्व अत्यन्त विवादास्पद है और अधिकतर भारतीय दार्शनिक ईश्वर में विश्वास ही नही करते। इस प्रकार यह समस्या कर्मवादियों के लिए एक ऐसी जटिल समस्या है जिस का संतोषप्रद समाधान सम्भव प्रतीत नहीं होता।

उपर्युक्त दार्शनिक समस्याओं के साथ-२ कर्मवाद में कुछ व्यावहारिक कठिनाइयां भी हैं जो इसे अमान्य तथा अवांछनीय बना देती हैं। सर्वप्रथम कर्मवाद की यह मान्यता पूर्णत: सत्य प्रतीत नहीं होती कि मनुष्य को शुभ कर्मों के कारण सुख तथा अशुभ कर्मों के कारण दु:ख प्राप्त होता है। वस्तुत: हमारा व्यावहारिक अनुभव इस मान्यता की पुष्टि नहीं करता, क्योंकि इस संसार में प्राय: सदाचारी व्यक्ति को दु:ख और भ्रष्टाचारी तथा अत्याचारी व्यक्ति को सुख प्राप्त होता है। फिर कर्मवादियों का यह दावा भी पूर्ण रूप से सत्य नहीं है कि प्रत्येक मनुष्य केवल अपने ही कर्मों के कारण सुख–दु:ख भोगता है। इस सम्बन्ध में वास्तविक स्थिति यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं अपने कर्मों के अतिरिक्त दूसरों के कर्मों के फलस्वरूप भी सुख–दु:ख प्राप्त होता है। हम सब अपने माता-पिताओं, शिक्षकों, प्रशासकों तथा नेताओं के सही या गलत निर्णयों के कारण सुख–दु:ख भोगते हैं। किसी देश के उच्चतम प्रशासकों तथा राजनीतिज्ञों के उचित या अनुचित निर्णय उसकी वर्तमान सम्पूर्ण पीढ़ी के जीवन को ही नहीं, अपितु अनेक भावी पीढ़ियों के जीवन को भी व्यापक रूप से प्रभावित करते हैं। इतना ही नहीं मनुष्य के दुष्कर्मों के करण पशु–पक्षियों को भी घोर कष्ट सहन करना पड़ता है। इस से स्पष्ट है कि अपने सुख–दु:ख के लिए प्रत्येक व्यक्ति केवल स्वयं ही उत्तरदायी नहीं है जैसा कि कर्मवाद के समर्थक मानते हैं। इस सिद्धान्त के विरुद्ध एक अन्य गंभीर आपत्ति यह भी है कि इस के अनुसार उस सामूहिक दु:ख की कोई तर्कसंगत व्याख्या नहीं की जा सकती जो भयंकर दुर्घटनाओं तथा प्राकृतिक आपदाओं के कारण सहस्रों मनुष्य को भोगना पड़ता है जिन में दुर्जन और सज्जन सभी सम्मिलित होते हैं। यह सर्वविदित तथ्य है कि अनेक भयंकर प्राकृतिक विपत्तियों के फलस्वरूप सहस्रों मनुष्य तथा अन्य निरीह प्राणि मारे जाते हैं अथवा असह्य कष्ट भोगते हैं। कर्मवाद इस विश्वव्यापी सामूहिक दु:ख की युक्तिसंगत एवं संतोषजनक व्याख्या करने मे असमर्थ हैं।

अंत में यहां कर्मवाद के एक अत्यंत हानिकारक परिणाम का भी उल्लेख कर देना आवश्यक है। कर्मवाद को स्वीकार करने का अर्थ है कि मनुष्यों तथा अन्य

प्राणियों के सुख-दुःख में किसी प्रकार का हस्तक्षेप करना अनुचित है क्योंकि वे सब अपने ही कर्मों का फल भोग रहे हैं। कर्मवाद का यह परिणाम व्यक्ति तथा समाज दोनों के लिए घातक होने के कारण नैतिक दृष्टि से बहुत आपत्तिजनक हैं। यदि इसे स्वीकार कर लिया जाए तो समस्त दुःखी मनुष्यों तथा अन्य प्राणियों के दुःख-निवारण का सम्पूर्ण प्रयास व्यर्थ अनावश्यक और अवाछनीय हो जाता है। इस का कारण यह है कि कर्मवाद के अनुसार ये सभी मनुष्य तथा प्राणी अपने ही दुष्कर्मों के फलस्वरूप दुःख भोग रहे हैं जो उन्हें अवश्य प्राप्त होना चाहिए। सम्भवतः कोई भी विचारशील व्यक्ति कर्मवाद के इस भयंकर परिणाम का समर्थन नहीं करना चाहेगा।

मीमांसा दर्शन में कर्म एवं व्यक्ति स्वातंत्र्य

डा० इन्दु पाण्डेय प्रवक्ता
दर्शन-विभाग हे०न०ब०ग० विश्वविद्यालय
श्रीनगर, गढ़वाल, उ०प्र०

मीमांसा-दर्शन का प्रमुख विवेच्य विषय कर्मकाण्ड है, तथा उसका ज्ञान-मीमांसा और तत्वमीमांसा कर्मकाण्ड की आवश्यकतानुसार इसके इर्द-गिर्द बुने गये हैं। सामान्यतः "कर्मकाण्ड" और "कर्म" में भेद किया जाता है। कर्मकण्ड, वेदविहित यज्ञों का अनुष्ठान मात्र है, जबकि "कर्म" विस्तृत अर्थ में प्रयुक्त होता है। कर्म शब्द "कृ" धातु से बना है जिसका सामान्य अर्थ है— करना, व्यापार या हलचल। इस प्रकार "कर्म" शब्द अपने में सम्पूर्ण दैविक, मानसिक व प्राकृतिक क्रियाओं को समेटे हुए है। मीमांसा दर्शन में "कर्म" को अत्यन्त संकुचित अर्थ-कर्मकाण्ड या यज्ञानुष्ठान के अर्थ में प्रयोग किया गया है। मीमांसा दर्शन में प्रयुक्त "कर्म" शब्द के अर्थ का विवेचन करते हुए पं० बाल गंगाधर तिलक लिखते हैं—

"मनुष्य जो कुछ भी करता है, वह सब यज्ञ के लिए करता है। यदि उसे धन कमाना है, तो यज्ञ के लिए और धान्य-संग्रह करना है तो यज्ञ के लिए। वह कर्म यज्ञ के लिए एक साधन है-वह स्वतंत्र रीति से साध्य वस्तु नहीं है। इसलिए यज्ञ से जो फल मिलने वाला है, उसी में उस कर्म के फल का भी समावेश हो जाता है-उस कर्म का कोई फल नहीं होता है परन्तु यज्ञ के लिए किये गये कर्म यद्यपि स्वतंत्र फल देने वाले नहीं हैं तथापि स्वयं यज्ञ से स्वर्ग प्राप्ति होती है।"[1]

यहां एक स्पष्टीकरण की आवश्यकता है। मीमांसा-दर्शन में यज्ञ कर्म का मुख्य उद्देश्य "स्वर्ग प्राप्ति" है। ईश्वर या ब्रह्मज्ञान नहीं। साथ ही यज्ञ-कर्म का फल किसी वैयक्तिक या अवैयक्तिक ईश्वर द्वारा नियन्त्रित नहीं होता। अपितु यज्ञ-कर्म में स्वयं इच्छित फल प्रदान करने की शक्ति होती है-जिसे अपूर्व की संज्ञा से अभिहित किया गया है। "अपूर्व" नामक अदृश्य शक्ति यज्ञ कर्म से उत्पन्न होती है और यजमान की आत्मा में रहता है। कुमारिल तन्त्रवार्तिक में कहते हैं—

---

१. गीता रहस्य, पं० बालगंगाधर तिलक, पृष्ठ ५४

"कर्मभ्यः प्रागयोग्यस्य कर्मणः पुरूषस्य वा।
योग्यता शास्त्रगम्या या परा सा पूर्णमिष्यते॥"[1]

उपरोक्त विवेचन में चूंकि कर्मफल प्रदान करने के लिए कर्ता और कर्म से इधर कोई तृतीय सत्ता स्वीकार नहीं की गयी है और व्यक्ति या कर्ता को ही कर्म और कर्मफल के लिए उत्तरदायी ठहराया गया। अतः राधाकृष्णन् जैसे विद्वान् कहते हैं– "मीमांसा दर्शन मानवीय स्वतंत्राता को मानता है अन्यथा मनुष्य अपने कर्मों के लिए उत्तरदायी नहीं ठहराये जा सकते।"[2] विचारणीय प्रश्न है कि क्या मीमांसा में विवेचित कर्मकाण्ड और अपूर्व का सम्यक् ज्ञान होने के बाद भी मानवीय-व्यक्तित्व को स्वतंत्र माना जा सकता है? क्या वेदविहित कर्म–यज्ञानुष्ठान के इतर कर्म-नहीं है। स्वर्ग-प्राप्ति को एक मात्र लक्ष्य स्वीकार करने पर व्यक्ति मानसिक रूप से यज्ञानुष्ठान से इतर कर्मों को करने के लिए किस सीमा तक स्वतंत्र रह पाता है? उपरोक्त प्रश्नों के अपेक्षित उत्तर प्राप्त करने के लिए सर्वप्रथम हमे मीमांसा में वर्णित कर्म और व्यक्ति के स्वरूप तथा उसके निर्णय लेने की स्वतंत्रता और परतंत्रता का विवेचन आवश्यक है।

भारतीय दर्शनों में 'कर्म" सामान्यतः निष्काम और सकाम कर्म के रूप में विवेचित किया गया हैं। गीता में निष्काम कर्म को सर्वोत्कृष्ट एवं अनुकरणीय बताया है, किन्तु मीमांसा दर्शन सकाम (प्रयोजन–स्वर्ग प्राप्ति हेतु यज्ञानुष्टान) कर्म की विवेचना अपना लक्ष्य मानता है। वेद–विवेचित यज्ञ–कर्मों को पुनः प्रतिष्ठापित करने के प्रयास के कारण, मीमांसा दर्शन को कर्मकाण्डीय-दर्शन की संज्ञा से अभिहित किया गया है। मीमांसा शास्त्र के अनुसार वेद प्रतिपादित कर्म तीन प्रकार के हैं[3]—

(१) काम्य कर्म – जो स्वर्गादि अभिलषित सुख को देने वाले पदार्थों के साधक हों, जैसे ज्योतिष्टोम यागादि। 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत्" आदि श्रुतिवाक्य में कामना विशेष की सिद्धि के लिए यागादि कर्म का विधान है। अतः इन्हें काम्यकर्म कहा गया है।

---

१. तन्त्रवार्तिक, कुमारिल, ३६४
२. भारतीय दर्शन, डा० राधाकृष्णन् पृष्ठ ३५७
३. अर्थसंग्रह, लोगाक्षि भास्कर पृष्ठ २५

(२) निषिद्ध कर्म—जो कर्म नरकादि अनिष्ट के साधक हों, उन्हें शास्त्रों में निषिद्ध कोटि में रखा गया है यथा—"न कलज्जं भक्षयेत् ब्राह्मणों न हन्तव्य: आदि।"[1]

(३) नित्य–नैमित्तिक कर्म— (क) जिनके अनुष्ठान से फल विशेष उत्पन्न नहीं होता, अपितु न करने से प्रत्यवाय दोषोत्पादक होता है। यथा– "अहरह: सन्ध्यामुपासीत"[2] इस विधि वाक्य के अनुसार सन्ध्योपासना कर्त्तव्य रूप में विहित है। इसके अनुष्ठान से फल विशेष नही होगा, परन्तु न करने से 'व्रात्यपतित" होने का दोष लगेगा।

(ख) प्रसंग–विशेष के उपस्थित होने पर जो आवश्यक कर्म परम्परा अनुपालन हेतु किये जाते हैं उन्हें नैमित्तिक कर्म माना गया है यथा श्राद्धादि।

जैमिनीय सूत्र में कर्म का विभाजन एक अन्य दृष्टिकोण से किया गया है, जिसमें कर्म के दो भेद बताये गये हैं—एक यज्ञार्थ कर्म, जो स्वतंत्र रीति से फल नहीं देते हैं, अतएव अबंधक है और दूसरे पुरूषार्थ कर्म अर्थात् जो पुरुष को लाभकारी होने के कारण बन्धक है। इस तथ्य को जैमिनीय सूत्र में निम्नोक्त प्रकार से अभि–व्यक्त किया गया है– "अर्थात: क्रत्वर्थ पुरूषार्थयोर्जिज्ञासा। यस्मिन्प्रीति: पुरुषस्य तस्य लिप्सा र्थलक्षणा विभक्तत्वात्।[3]"

मीमांसा दर्शन में कर्म को वेदविहित यज्ञ कर्मों के दायरे में समेट दिया गया है। इस दर्शन के अनुसार वेद का एक वाक्य भी ऐसा नहीं है, जिसमें किसी काम्य कर्म का निर्देश न हो। अत: प्रमुख मीमासा ग्रन्थों में "कर्म" की विवेचना के लिए वेदविहित यज्ञकर्मों की विवेचना की गयी है। वेदविहित कर्मो की विवेचना की गयी है। वेदविहित कर्मों की विवेचना के लिए मीमांशा दर्शन मे वेद के पांच भागों की चर्चा विस्तार से की जाती है – विधि, मंत्र, नामधेय, निषेध और अर्थवाद। अर्थ संग्रह में लौगाक्षि भास्कर इन्हीं पांचों की विवेचना करते हुए कहते हैं– "स च विधिमन्त्र नामधेयनिषेधार्थवाद भेदान् पंचविध। विधि–तत्राज्ञातार्थज्ञापको वेदभागो विधि।"[4] अर्थात् वेद के उस अंश को विधि कहते हैं, जो अलौकिक विषय पर प्रकाश डाले। मंत्र – प्रयोगसमवेतार्थस्मारकामन्त्रा:।"[5] अर्थात् वेद के उस

अंश को मंत्र कहा जाता है जिनका पाठ यागानुष्ठान काल में याग में प्रयोग किये जाने वाले पदार्थों का स्मरण कराने के लिए किया जाये।

नामधेय–नामधेयानां च विधेयार्थपरिच्छेदकतयार्थवत्वम्[6]। अर्थात् नामधेयों की यही सार्थकता है कि वे विधेय क्रिया के व्यावर्तक होते हैं अर्थात् नामधेयों से क्रियामात्र का बोध होता है।

निषेध—पुरुषस्य निवर्तकं वाक्यं निषेधः।

अर्थात्—निषेध वाक्य ऐसे वाक्यों को कहते हैं जो पुरुष को अनर्थकारी क्रियाओं को करने से रोकते हैं।

अर्थवाद—प्राशस्त्यनिन्दान्यतरपरं वाक्ययर्थवादः[8]।

अर्थात्—विधि वाक्यों के द्वारा विकृत कर्मों के प्रशंसक एवं निषेध वाक्यों के द्वारा निषिद्ध कर्मों के निन्दक वाक्यों को अर्थवाद कहते हैं।

मीमांसा दर्शन में वर्णित कर्म की विवेचना के पश्चात् इसमें वर्णित व्यक्ति का विवेचन और विश्लेषण अपेक्षित जान पड़ता है। यह अपेक्षा इसलिए है क्योंकि व्यक्ति के स्वरूप के ज्ञान के बिना हम उसके स्वतंत्र या परतंत्र होने का निर्धारण नहीं कर सकते हैं।

मीमांसा दर्शन में वर्णित वेदविहित यज्ञकर्मों को करने के लिए शरीर धारी व्यक्तित्व स्वीकार करना जिस प्रकार एक अनिवार्यता हैं, ठीक उसी प्रकार यज्ञकर्मों द्वारा अपूर्व के माध्यम से स्वर्गादि की प्राप्ति के लिए आत्मा को मानना भी आवश्यक है। मीमासां के अनुसार यह आत्मा नित्य है तथा शरीर और इन्द्रियादि से भिन्न है। श्रुति में कहा गया है कि–यजमानः स्वर्गं लोकं याति" अर्थात् यजमान यज्ञ करने के बाद स्वर्ग को जाता है। वस्तुतः शरीर तो यही खतम हो जाता है इसलिए शरीर स्वर्ग नहीं जाता। शरीर का क्षीण होने और नष्ट होने का कारण समय है। ऐसा संकेत जैमिनीय सूत्र में मिलता है–अंगानामुत्रात मंयोगे निमित्तार्थ। प्रधाननेनाभि संयोगाद‍ं गाना मुख्य कालत्वम्[9]। अर्थात् किसी भी अग के घात का कोई न कोई कारण होता है। लेकिन सभी कारण प्रकृति से सम्बन्ध होते हैं। किन्तु

काल सभी में सामान्य होता है। सभी चीजें, सभी व्यक्ति समयानुसार क्षीण और नष्ट होते हैं। इसी पर प्रतिक्रियात्मक व्याख्या देते हुए एन०वी थीडानी लिखते हैं—काल वह महान प्राकृतिक शक्ति है जो वस्तुओं और व्यक्तियों को निम्नतर बनना है और इसीलिए काल ही पतन, मृत्यु अवनति का कारण माना जाना चाहिए। किन्तु जहां तक उन्नति का प्रश्न है, वह प्रयत्नों से सम्बन्ध रखता है,

काल के द्वारा शरीर की मृत्यु तो हो सकती है कि उसके द्वारा किये गये शुभाशुभ कर्मो का सम्बंध जीवात्मा या आत्मा में होता है। उन्हीं कर्मों को लेकर आत्मा पुनर्जन्म में नूतन शरीर से संयुक्त होकर पूर्वाजित कर्मों के फलोपभोग में प्रवृत्त होता हैं। किन्तु आत्मा हर दशा में कर्त्ता और भोक्ता होता है। मीमांसा के अनुसार चैतन्य आत्मा का औपाधिक गुण है, यह गुण इन्द्रिय और विषयों के संयोग से उसमें आता है।

मीमांसा दर्शन में वर्णित कर्म, कर्मफल और व्यक्ति के स्वरूप के विवेचन के पश्चात् व्यक्ति की स्वतन्त्रता मीमांसा दर्शन में संभव है या नहीं? इस प्रश्न पर विचार करते है। स्वतन्त्रता का सामान्य अर्थ स्वानुशासन और परतंत्रता का सामान्य अर्थ है किसी अन्य द्वारा अनुशासित होना[9]। चूंकि मीमांसा दर्शन में कर्म और कर्मफल प्रदान करने की शक्ति किसी ईश्वरीय सत्ता में निहित न होकर 'अपूर्व' के रूप में यज्ञ कर्म और कर्त्ता में निहित मानी गयीहै। अत: व्यक्ति को स्वतंत्र माना जा सकता है— जैसा कि डा० राधाकृष्णन् लिखते हैं—"कर्म विधान का तात्पर्य यदि ठीक-ठीक समझ लिया जाय तो मानवीय स्वतंत्रता के साथ इसकी असंगति नहीं है। हम प्रथम पग उठाने से बच सकते हैं, किन्तु जब एक बार पग उठा लिया, तो स्वभावत: दूसरा पग सरलता से उठ जायेगा[11]।

राधाकृष्णन् का व्यक्ति स्वातंत्र्य का विवेचन सरल और रोचक है, किन्तु सूक्ष्म विश्लेषण से इसमें कई कठिनाइयां आती हैं। प्रथम, मीमांसा दर्शन में वेदविहित यज्ञ कर्म का पर्यायवाची 'कर्म" प्रयुक्त होता है। निःसंदेह इसमें लोककल्याणकारी कार्यों की विवेचना की गयी हैं किन्तु श्रेष्ठतर यज्ञ कर्म है। यहां स्वभाविक प्रश्न उठता है

कि 'यज्ञ-कर्म" में व्यक्ति के सम्पूर्ण इच्छित और काम्य कर्म को सीमित कर देना, व्यक्ति को कितना स्वतन्त्र छोड़ता है ? फिर व्यक्ति तो शरीर और आत्मा का संयुक्त रूप है और शरीर का विनाश कालानुसार अवश्यंभावी है किन्तु आत्मा पूर्व शरीर के कर्मों का भोग अन्य शरीर से संयुक्त होकर करता है क्या ऐसी अवस्था में परवर्ती शरीर पूर्ववर्ती कर्मों के भोग के लिए बाध्य नहीं है ? और यदि बाध्य है तो उसे किस सीमा तक स्वतंत्र कहा जा सकता है ? तृतीय प्रश्न यह उठता है कि वेदविहित यज्ञकर्म में होता और यजमान दोनों ही यथास्थान कार्य करते हैं। होता यजमान के लिए यज्ञ का अनुष्ठान करता है। अनुष्ठान में किसी भी त्रुटि का फल कौन भोगेगा, होता या यजमान। चूंकि यज्ञ का अनुष्ठान यजमान करवाता है, अतः फल का भोग भी उसे ही करना है। क्या ऐसी स्थिति में यजमान, होता के कर्मों का फल भोगने के लिए बाध्य नहीं है ? अगर बाध्य है, तो किस सीमा तक उसे स्वतन्त्र कहा जा सकता है ?

ये कुछ प्रश्न हैं, जो मीमांसा दर्शन के कर्मकाण्डीय विवेचन की सीमा में उठाये जा सकते हैं किन्तु इस सीमा के परे भी अनेक आक्षेप उठाये जा सकते हैं, जो व्यक्ति को परतन्त्र मानने के लिए बाध्य करें। सर्वप्रथम मीमांसा में व्यक्ति वेदविहित कार्य करने के लिए बाध्य है' क्योंकि तदनुसार स्वर्ग प्राप्ति ही एक मात्र लक्ष्य है। ऐसा प्रतीत होता है कि मीमांसा में ईश्वर के स्थान पर वेद को प्रतिष्ठापित कर दिया गया है, वह भी वेदों के सिर्फ कुछ अंशों को। व्यक्ति "ब्रह्मज्ञान" का इच्छुक हो ज्ञान मार्ग का भी अनुसरण कर सकता है या उसकी इच्छा रख सकता है। ऐसी अवस्था में मीमांसा ज्ञानमार्ग अपना ने के लिए उसे कहां तक स्वतंत्र छोड़ता है ? एरिक फ्राम तो यहां तक कहते हैं कि कोई भी धार्मिक या सामाजिक निर्देश व्यक्ति की स्वतन्त्रता और उसके रचनात्मक कर्म को परतंत्र बना देता है और व्यक्ति स्वाभाविक कर्म नहीं कर पाता है[12]। कुछ इसी तरह की बात पाश्चात्य दार्शनिक बर्ट्रेंड रसेल भी कहते हुए नजर आते हैं जब वे स्वतंत्रता की परिभाषा देते हैं उनके अनुसार— स्वतन्त्रता अपने सबसे अमूर्त अर्थों में अपनी इच्छाओं की अनुभूति में बाह्य कारणों की अनुपस्थिति है[13]। अपने अन्य ग्रन्थ में उनका मानना है कि अपने रचनात्मक

संवगों की अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता, असली स्वतंत्रता है[14]। निश्चित रूप से एरिक फ्राम और बर्ट्रेंड रसेल जिस अर्थ में व्यक्ति की स्वतंत्रता परिभाषित करते हैं उस अर्थ में मीमांसा में वर्णित व्यक्ति स्वतंत्र नहीं रह जाता है। वह तो यज्ञानुष्ठान और स्वर्ग प्राप्ति के लक्ष्य से पूर्णतः बंधा हुआ है और अपने कर्मों के बारे में निर्णय के लिए वेद-वाक्यों पर निर्भर है। अतः स्वतंत्र कैसे कहा जा सकता है। हां, अगर व्यक्ति के स्वाभाविक कर्म और प्रवृत्तियों को यज्ञ कर्मों के दायरे मे बांधा जा सके तो किसी तृतीय सत्ता द्वारा कर्मफल का निर्देशन न होने से और अपूर्व को मानने के कारण व्यक्ति को स्वतंत्र कहा जा सकता है क्योंकि अपूर्व का आधार आत्मा है। किन्तु सही अर्थों में तो मीमांसा व्यक्ति के सारे निर्णयों का आधार व्यक्ति से छीन वेद वाक्यों और यज्ञानुष्ठानों को दे देता है। ऐसी दशा में व्यक्ति के स्वतत्र होने का भ्रम अवश्य हो सकता है किन्तु वह है परतंत्र। कर्मकाण्डीय यज्ञानुष्ठानों के अलावा कोई भी कर्म करने के लिए उसे स्वतंत्र नहीं छोड़ा गया। साथ ही जिस अर्थ में मीमांसा में व्यक्ति की स्वतंत्रता स्वीकार की जाती है, वह अत्यन्त सीमित है और आज के परिप्रेक्ष्य में उसकी सार्थकता नहीं है।

कर्म और कर्मफल के सिद्धान्त की दार्शनिक व्याख्या

लेखक–
डा० विजयपाल शास्त्री रोडर एवं अध्यक्ष
दर्शन विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, जिला हरिद्वार उ.प्र.

मानव-जीवन कर्म और भाग्य के समन्वित संस्कारों का फल है। कर्म और भाग्य में कोई विशेष अन्तर नहीं है। पूर्वजन्मोपार्जित कर्मसमूह वर्तमान जीवन में फल प्रदान करते हुए भाग्य नाम से व्यपदिष्ट होता है। हम इस जीवन में वर्तमान कृत और पूर्वकृत दोनों ही प्रकार के कर्मों का फल भोगते हैं। वर्तमान कर्म तो स्पष्ट ही अनुभव में आ रहा है। व्यायाम करने से देह निरोग और बलिष्ठ होता है। अध्ययन करते हैं तो विद्या अर्जित करते है। धनसंग्रह से धनवान् और अपव्यय से दरिद्र होते हैं। यह वर्तमान कृत कर्मों का प्रत्यक्ष फल है। जिन कर्मों का फल नहीं मिल पाता वे संगृहीत होते रहते हैं और कर्माशय का रूप धारण कर लेते हैं।

कुछ फल हमें भाग्य कहे जाने वाले पूर्वकृत कर्मों का भी वर्तमान जीवन में मिलता है जैसे उच्चावच कुल में अथवा मनुष्यादि योनियों में जन्म लेना दैवाधीन है। जब तीव्रतम प्रयास करने पर भी कार्यसिद्धि नहीं होती तो उसमें पूर्वकृत कर्मों को बाधक माना जाता है इस प्रकार कर्म और भाग्य के समन्वय से ही जीवनयात्रा अनवरत चलती रहती है। इसी कारण पारदृश्वा पंडित लोग केवल कर्मवाद या केवल भाग्यवाद पर आग्रह नहीं करते। इसीलिये "स्वकर्मसूत्रैर्ग्रथितो हि लोकः" यह कथन भी सत्य है तथा—

> अवश्य भव्येष्वनवग्रहग्रहा
> यया दिशा धावति वेधसः स्पृहा।
> तृणेन वात्येव तयेऽनुगम्यते
> जनस्य चित्तेन भृशावशात्मना ॥—नैषध

महान् दार्शनिक श्री हर्ष का यह वचन भी कालानवच्छिन्न यथार्थवाद पर आधृत है।

कर्म का लक्षण—सामान्य रूप से शारीरिक चेष्टाओं को कर्म की संज्ञा दी जाती है

किन्तु दार्शनिक मनीषी इतनी परिभाषा से सन्तुष्ट नहीं होते। उन्हें तो अतिव्याप्ति अव्याप्ति तथा असम्भव इन तीनों दोषों से रहित कर्म का लक्षण अपेक्षित है। अत: महर्षि कणाद कहते हैं—

एक द्रव्य मगुणं सयोगवियोगेष्वन-

पेक्षकारणमिति कर्म लक्षणम्।—वैशेषिक १/१/१९

अर्थात् जो एक द्रव्याश्रित हो, गुणों से रहित हो, तथा जो संयोग और विभाग में निरपेक्ष कारण हो ऐसी शारीरिक चेष्टा को कर्म कहते है।

भाव यह है कि कर्म स्वतन्त्र नहीं होता। वह किसी एक द्रव्य पर आश्रित होता है। द्रव्य के साथ ही कर्म की उत्पत्ति होती है। द्रव्य के अभाव में निराधार कर्म स्थित नहीं रह सकता। यही एक द्रव्याश्रित होने का तात्पर्य है।

कर्म की दूसरी विशेषता यह है कि वह गुण नहीं होता। यद्यपि गुण के समान कर्म भी द्रव्य के ही आश्रित रहता है, फिर भी गुण गुण ही है और कर्म कर्म ही है। कर्म त्रिक्षणावस्थायी होता है। तीसरे क्षण में कर्म का नाश हो जाया करता है किन्तु गुण तो द्रव्य के साथ नित्य सम्बद्ध है क्योंकि द्रव्य नित्य है। इसलिए न तो कर्म गुण है और न कर्म का कोई गुण होता है।

कर्म की तीसरी विशेषता यह है कि कर्म जब उत्पन्न होता हैं तो वह किसी न किसी संयोग या विभाग को अवश्य उत्पन्न करता है। उत्पादन में वह स्वतन्त्र कारण है किसी अन्य कारण की अपेक्षा नहीं करता। उदाहरण के लिए जब हम गेन्द को धरती पर जोर से मारते हैं तो यह गेन्द को फेंकना एक कर्म है। गेन्द का हाथ में आना संयोग है और गेन्द को छोड़ देना विभाग है। इस संयोग और विभाग में हाथ या गेन्द कारण नहीं है अपितु कर्म ही कारण है

कर्म की चतुर्थ विशेषता यह है कि कर्म कर्मसाधक नहीं होता। अर्थात् एक कर्म दूसरे कर्म का साक्षात् कारण नहीं होता अपितु कर्मजन्य वेग उस दूसरे कर्म का कारण होता है गेन्द को जब हम एक बार धरती पर पटकते हैं तो वह बार-बार उछलती

और गिरती है। इस बार-बार के उछलने और गिरने में प्रथम कर्म कारण नहीं है अपितु पहले कर्म का वेग कारण है जिसे कर्मत्व कहा जाता है। इसी बात को सूत्रकार ने कर्म कर्मसाध्यं न विद्यते (१-१-११) इस सूत्र से कहा है।

यहां यह बात भी ध्यातव्य हैं कि कर्म और कर्मत्व को एक वस्तु नहीं समझना चाहिए। कर्मत्व कर्म में रहता है। कर्मत्व एक जाति है और जाति को न्याय दर्शन में नित्य माना गया है जबकि कर्म नश्वर है "(कर्मसु भावात् कर्मत्वमुक्तम्)– वैशेषिक १-२-१५ कर्म की पांचवी विशेषता है कि वह फल देकर नष्ट हो जाता है। स्थूल कर्म तो तीसरे क्षण में स्वतः नष्ट हो जाता है किन्तु संस्कार के रूप में वह आत्मा के साथ तब तक सम्पृक्त रहता है जब तक उसका फल कर्त्ता को नही मिल जाता। 'नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्प-कोटि शतैरपि" आदि वचनों का यही तात्पर्य है। फलों को कार्य भी कहा जाता है। चूंकि यह फल कर्म के संस्कार को भी नष्ट कर देता है इसलिये कार्य को कर्म का विरोधी माना जाता है।कणाद ने कार्य-विरोधि कर्म" कहकर इसी भाव को व्यक्त किया है।

कर्म के भेद—कर्म का उपर्युक्त लक्षण ही निर्दुष्ट लक्षण है। उक्त लक्षण के आधार पर वैशेषिक दर्शन में पांच प्रकार की क्रियाओं को कर्म कहा है। ये पांच कर्म हैं— १– ऊपर को उठाना या उठना, २– नीचे को फेंकना या दबना, ३– सिमटना या समेटना, ४– फैलाना और ५– गति करना[1]।

उक्त पांच प्रकार के कर्मों में प्राणिमात्र के समस्त कर्मों का समावेश हो जाता है। पशु पक्षी कीट पतंगादि प्राणियों के कर्म भी कार्य ही हैं किन्तु दर्शनशास्त्र में पशु पक्षी आदि के कर्मों की व्याख्या नहीं की जाती, अपितु केवल मनुष्य जाति के कर्मों का ही विश्लेषण किया जाता है, क्योंकि मनुष्य के कर्मों में ही कर्तृत्व भावना होती है। मैं कर्मों को करने वाला हूं यह कर्तृत्व भावना केवल मनुष्य में ही होती है। मनुष्येतर प्राणियों में यह कर्तृत्व–भाव नहीं होता।

कर्तृत्व के आधार पर ही कर्मों में शुभाशुभत्व अथवा पुण्यत्व और पापत्व का आरोप किया जाता है। इस आधार पर कर्मों के चार भेद किये जाते हैं— १– शुक्ल कर्म २– कृष्ण कर्म ३- शुक्ल कृष्ण कर्म और ४– अशुक्लाकृष्ण कर्म।

पुण्यात्मा ऋषि मुनि और देवों के कर्म शुक्ल कर्म होते है। पापात्मा दुष्ट पुरुषों के कर्म कृष्ण कर्म कहलाते हैं। साधारण गृहस्थ अग्निहोत्री एवं अन्य सांसारिक मनुष्यों के कर्म शुक्ल और कृष्ण दोनों प्रकार के होते हैं। किन्तु जीवन्मुक्त योगियों के कर्म न शुक्ल होते हैं और न कृष्ण। क्योंकि योगियों के निष्काम कर्मों में कर्तृत्व का भाव समाप्त हो चुका होता है।

यहां यह बात ध्यातव्य है कि कोई भी कर्म अपने आप में शुभ या अशुभ नहीं होता। कर्म केवल कर्म होता है। केवल कर्तृत्व भाव से ही वह शुभ या अशुभ अथवा शुक्ल या कृष्ण बनता है। मानसिक भावना से ही कर्मों में उत्कृष्टता,–निकृष्टता, निर्मलता दुष्टता, तथा निष्कामता सकामता तथा शुक्लता और कृष्णता का समावेश होता है। उदाहरण के लिये चलते हुए अनजाने में आपके पैरों मे कुचलकर अनेक प्राणी मर जाते हैं, छोटा शिशु अनेक अनभीष्ट चेष्टाएं करता है, अग्नि में हाथ डाल लेता है, अभक्ष्य खा लेता है, वस्त्रों पर जलता दीपक उलट देता है। इन सब कर्मों का फल तो अवश्य मिलता है कुछ का तुरन्त और कुछ कर्मों का कालान्तर मे, किन्तु इन कर्मों को शुभ या अशुभ की संज्ञा नहीं दी जा सकती, क्योंकि इन कर्मों के साथ कर्तृत्व की भावना थी ही नहीं।

कर्म–स्वातन्त्र्य— अब प्रश्न यह उठता हैं कि जीवात्मा को कर्म करने में स्वतन्त्रता कितनी हैं। वेदों में और दर्शनशास्त्र में जीवों को कर्म करने में स्वतंत्र कहा गया है और फल भोगने में परतंत्र बताया गया है। वेद कहता है कर्मों को करते हुए ही सो वर्ष जीने की इच्छा करो[1]। यह बात तभी बन सकती है जब जीवों को कर्म करने की स्वतन्त्रता हो। यदि मनुष्य यन्त्र की तरह परतन्त्र होता तो इस प्रकार के उपदेश की आवश्यकता ही नहीं थी।

---

१. कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥
यजु० ४०/२

न्याय दर्शन भी ईश्वर के कर्तृत्व का खण्डन करके पुरुष को ही कर्मों का कर्ता सिद्ध करता है। उसका तर्क है कि पुरुष के कर्मों के अभाव में फल की निष्पत्ति सम्भव नहीं है। अत: पुरुष केवल कर्म करता है. फल की व्यवस्था ईश्वर करता है[1]।

महर्षि जैमिनि ने भी जीवों के स्वातन्त्र्य का अंगीकार किया है[2]। स्वामी दयानंद ने तो स्पष्ट ही कर्मों का कर्त्ता जीवों को और फल का व्यवस्थापक ईश्वर को स्वीकार किया है[3]।

किन्तु श्रुति और स्मृति में इसके विपरीत मत के प्रतिपादक वाक्य भी मिलते हैं। अर्थात् जो पूर्णरूप से कर्म करने में स्वतन्त्र नहीं है। विधाता की इच्छा और पूर्वजन्म के कर्मसंस्कार प्रतिबन्धक बनकर जीव के कर्मस्वातन्त्र्य को व्याहृत करते हैं। इस मत को स्वीकार करने वाले आचार्यों का अभिप्राय यह है कि कर्मों का साक्षात् कर्ता तो मनुष्य ही है किन्तु उन कर्मों को करने की प्रेरणा उसे नियति की ओर से या ईश्वर की ओर से मिलती है। मनुष्य तो केवल निमित्त है, कर्तृत्व का केवल अभिमान करता है। करने वाला जीव है किन्तु कराने वाला ईश्वर है।

इसमें गीता का दृष्टान्त दिया जा सकता है। जब मोह ग्रस्त अर्जुन ने कर्म विमुख होकर युद्ध करने से मना कर दिया तब भगवान् ने कहा कि अर्जुन जिनसे युद्ध करने के लिए तू मना कर रहा है वे तो मेरे द्वारा पहले ही मारे जा चुके है तुझे तो केवल निमित्त-मात्र बनना है[4]। यदि तू युद्ध नहीं करेगा तब भी ये भीष्म द्रोण आदि शूरवीर नही रहेंगे[5]

---

१. क– ईश्वर: कारणं पुरुष कर्माफल्य दर्शनात् (पूर्वपक्ष)
   ख न पुरुष कर्माभावे फलानिष्पत्ते: (उत्तरपक्ष)
   न्यायसूत्र ४-१-१९
   ४-१-२०

२. प्रयोगे पुरुष श्रुते यर्थाकामी प्रयोगे स्यात्– जैमिनीय सूत्र ६-२-३

३. सत्यार्थ प्रकाश-सप्त समुल्लास

४. मयैवेते निहता: पूर्वमेव
   निमित्त मात्रं भव सव्यसाचिन् १– गीता–११-३३

५. ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
   ये ऽवस्थिता: प्रत्यनीकेषु योधा: ११–गीता ११-३१

इसी प्रसंग में महाभारत के दुर्योधन का दृष्टांत दिया जाता है। जब दुर्योधन से यह पूछा गया कि तुम यह नीति विरुद्ध कार्य क्यों करते हो, तो उसका यह उत्तर जीव के कर्म स्वातन्त्र्य पर प्रश्नचिह्न लगाता है—

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्ति
जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।
केनापि देवेन हृदि स्थितेन
यथा नियुक्तो ऽस्मि तथा करोमि ॥

विचारणीय है कि यह कौन देव है जो हृदय में स्थित होकर जीवों को कर्म में नियुक्त करता है? सम्भवतः ग्रन्थकार का संकेत परमेश्वर की ओर है। पूर्वजन्म के संचित कर्मों का समूह भी वह देव हो सकता है जिसे भवितव्यता भी कहा जाता है। भवितव्यता की अनिवार्यता को महाकवि कालिदास ने भी स्वीकार किया है महर्षि कश्यप के आश्रम में जाते ही जब दुष्यन्त की दक्षिण बाहु स्फुरित हो उठती है तो वह सोचने लगता है कि इस शान्त आश्रय में मुझे किस कल्याण की उपलब्धि हो सकती है। फिर यही सोचकर वह निश्चिन्त हो जाता है कि भवितव्यता तो गृह या वन में कहीं भी घटित हो सकती है। क्योंकि भवितव्यता के द्वार अनेक होते हैं[1]।

अनेक औपनिषद वचन भी जीव को गौण कर्त्ता और परमेश्वर को परम कर्ता सिद्ध करते हैं। कठोपनिषद् में कहा गया है कि ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति गुरु के प्रवचन से तीव्र मेधा से या श्रवणादि से सम्भव नहीं है। उसे तो वही पा सकता है जिसे परमात्मा ही स्वयम् वरण कर लेता है[2]।

---

१. शान्तमिद माश्रम पदं स्फुरति च बाहुः कुतः फलमिहास्य।
अथवा भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र ११- शाकुन्तल

२. नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः
तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम् ११ कठ० १/२/९३

इसका अर्थ है कि साधक का प्रयास तो अकिंचित्कर है। परमात्मा ही जब चाहता है तभी वह अपना स्वरूप उस साधक के समक्ष उद्घाटित करता है।

आगे कहा गया है कि अंगुष्ठ मात्र परमेश्वर आत्मा के मध्य में स्थित है जो भूत और भव्य का ईशिता है[1]। एक स्थान पर कहा गया है कि वह परमात्मा जिसको ऊपर उठाना चाहता है उससे शुभ कर्म कराता है और जिसे नीचे गिराना चाहता है उससे वह अशुभ कर्म कराता है[2]। गीता कहती है कि ईश्वर ही प्राणियों के हृदय में स्थित रहकर उनको यन्त्रारूढ वस्तुओं की तरह घुमाता है।

इन सब वचनों से सिद्ध होता है कि कर्मों का साक्षात् कर्त्ता तो जीव ही दृष्टिगत होता है। किन्तु वह ईश्वर के नियन्त्रण में रहकर ही कार्य करता है। इसी कारण वह अल्प कर्त्ता है सर्वकर्त्ता नहीं। जीव कर्म करने में परतन्त्र भी है।

परतन्त्रवादियों से यह पूछा जा सकता है कि यदि ईश्वर ही जीवों से कर्म कराता है तो सुख दुःख रूप फल भी ईश्वर को ही मिलना चाहिए जीव को नहीं। इस प्रश्न का उत्तर यह दिया जाता है कि ईश्वर जीवों से अपने लिये ही वह कर्म नहीं कराता अपितु प्राणियों के कल्याण के लिये ही वह कर्म कराता है। इसमें ईश्वर का कोई स्वार्थ नहीं है। ईश्वर मनुष्यों से उन्हीं का कल्याण सम्पादित करने के लिये कर्म कराता है। इसलिये फल भी उन्हें ही मिलता है। यही ईश्वर का अनुग्रह कहलाता है। यदि वह अपने भक्तों को दुःख भी देता है तो इसमें भी उसकी कृपा का भाव ही निहित है। इसलिये विवेकी पुरुष सुख की अपेक्षा दुःख का ही वरण करते हुए देखे जाते हैं।

---

१. अंगुष्ठ मात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि यिष्ठति।
ईशानो भूत भव्यस्य ततो न विजुगुप्सते ११-कठ. २/१/१२

२. ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ११- गीता १८/६१.

ईश्वरवादियों का तर्क यह है कि कर्म कार्यों को उत्पन्न करके नष्ट हो जाता है। क्योंकि कार्य कर्म का विरोधी है[1]। जब कर्म नष्ट हो गया तो कालान्तर में मिलने वाले फल को वह कैसे दे सकता है।

दूसरा तर्क उनका यह है कि कर्म एक जड़ तत्त्व है। वह न्यायपूर्वक विचार करके फल कैसे दे सकता है। फल देना तो किसी बुद्धिमान् और निष्पक्ष चेतन प्राणी का कार्य है। वेदान्त कहता है परान्तु तच्छ्रुतेः "अर्थात् जीव को कर्मों का फल ईश्वर से प्राप्त होता है, क्योंकि श्रुति कहती है "य आत्मनि तिष्ठन्नात्मानमन्तरो यमयति"।

कर्मवादी पूछ सकता है कि ईश्वर यदि फलप्रदाता है तो क्या कभी यह सम्भव है कि वह कर्मों के अनुसार फल न भी दे? ईश्वरवादियों के पास इसका उत्तर नकारात्मक ही है। क्योंकि ईश्वर का यह सामर्थ्य है ही नहीं कि जीव कर्म को और ईश्वर उसका फल रोक दे। इसका अभिप्राय यह हुआ कि ईश्वर फल देने के लिए विवश है। किन्तु यह बात तो बड़ी विरुद्ध है। जो देने में समर्थ होता है वह न देने में भी समर्थ होता है यदि वह केवल दे ही सकता है, फल रोक नहीं सकता तो इसका अर्थ यह हुआ कि फल देना उसका स्वभाव है। ऐसी अवस्था में वह कर्मों के अभाव में भी फल दिया करेगा। क्योंकि स्वभाव तो स्वभाव ही है। वह बदला नहीं करता, न उसमें कोई शर्त लगायी जा सकती है। प्रकाश देना सूर्य का स्वभाव है। यह कभी सम्भव ही नहीं कि वह प्रकाश न दे। किन्तु ईश्वरवादियों के अनुसार ईश्वर देने के लिए कर्मों की अपेक्षा करता है।

निष्कर्ष यह है कि ईश्वर का फलदातृत्व तर्क से खण्डित हो जाता है। कर्म वादियों का तर्क यह है कि यदि ईश्वर कर्म का फल रोक नहीं सकता तो कर्मों की शक्ति ईश्वर की शक्ति से अधिक है। कर्म ही अधिक सामर्थ्य शाली है। अतः कर्म स्वयम् ही फल देने में समर्थ है। इसलिए मीमांसकाचार्य कुमारिल भट्ट कहते हैं कि यज्ञादि कर्म में ही फल उत्पन्न करने की शक्ति निहित होती है। वह शक्ति अपूर्व

---

१. कार्य विरोधि कर्म १-वैशेषिक सूत्र १/१/१४

कहलाती है। कर्म यद्यपि क्षणिक है किन्तु वह अपूर्व के रूप में आत्मा पर एक लकीर सी छोड़ जाता है। वही कालान्तर में कर्ता को फल प्रदान करती है[1]।

कर्मवादियों का तो यहां तक कहना है कि फल के देश काल मात्रा और साधन का हिसाब किताब रखना और उनकी व्यवस्था करना भी कर्म के ही हाथ मे हैं। वे कहते हैं—

यस्माच्च येन च यथा च यदा च यच्च
यावच्च यत्र च शुभाशुभमात्म कर्म।
तस्माच्च तेन च तथा च तदा च तच्च
तावच्च तत्र च विधातृ वशादुपैति ।।

अर्थात् शुभ या अशुभ कर्म जिस कारण से जिस साधन से, जैसा, जब, जो, जितना और जिस स्थान पर किया गया है उसका फल भी उसी कारण से उसी साधन से, वैसा ही, उसी स्थिति में, उतना ही और उसी स्थान पर मिलता है।

हमारी दृष्टि में कर्मवादियों का उक्त मत सर्वथा उपेक्षणीय नहीं है। कर्म यद्यपि जड़ है किन्तु उसे सर्वथा सामर्थ्य हीन नहीं कहा जा सकता। जड़ पृथ्वी से बीज समय पर अंकुरित होता है, समय पर वृक्ष बनता है और समय आने पर ही फल देता है। इसमें चेतन की उपयोगिता कहां है। हां चेतन की इतनी उपयोगिता है कि उसने बीज का वचन दिया है। आगे का समस्त दायित्व वृक्ष और बीज ही वहन करते हैं। यही दशा कर्मफल की भी है। ईश्वर ने केवल यह नियम बना दिया है कि कर्म का फल अवश्य ही मिलेगा। बस इसके बाद वह निज दायित्व से निवृत्त हो गया। अब किस कर्म का फल कब मिले कैसा मिले और कितना मिले यह सब कर्म पर ही निर्भर हैं। कर्मों की तीव्रता और मन्दता के आधार पर फल के

---

१. यागादेव फलं तद्धि शक्ति द्वारेण सिध्यति।
सूक्ष्म शक्त्यात्मकं वा तत् फलमेवोपजायते ।।
—तन्त्र वार्तिक पृ.-३९५

उपर्युक्त दोनों पक्षों में कौन सा पक्ष यथार्थ माना जाये यह एक विचारणीय समस्या है। हमारा मत यहां भी समन्वयवादी है। मनुष्य को पूर्ण रूप से स्वतन्त्र कहना भी उचित नहीं और पूर्णरूप से ईश्वर को कर्त्ता मानना भी ठीक नहीं। जीवात्मा तब तक कर्म करने में स्वतन्त्र है जब तक उसका कोई तीव्रतम प्राक्तन कर्म फलोन्मुख होकर प्रतिबन्धक नहीं बन जाता। जब कोई पूर्वकृत कर्म फल देने के लिये उपस्थित हो जाता है तो जीव की बुद्धि उसी दिशा में दौड़ने लगती है और उससे वैसे ही कर्म कराती है। सम्भवतः इसी कारण "विनाशकाले विपरीत बुद्धिः की कहावत प्रारम्भ हुई। इससे जीव अपने ही कर्मों से किंचित् परतन्त्र भी है।

"ईश्वर ही जीवों को कर्म कराता है" इस सिद्धान्त की भी सर्वथा उपेक्षा नहीं की जा सकती। जीवों के कर्म करने में ईश्वर की भी प्रेरणा रहती है। यदि ऐसा न हो तो श्रुति और स्मृतियों के पूर्वोक्त वचन निराधार हो जायेंगे तथा ईश्वर का अनुग्रह अप्रमाण हो जायेगा। किन्तु यह कहना कि ईश्वर जीवों को कर्म करने की किंचित् भी स्वतन्त्रता नहीं देता सर्वथा युक्ति विरुद्ध है। यह जो कहा गया है कि परमेश्वर समस्त प्राणियों को अपनी माया से भ्रमित किये हुए हैं, सर्वथा सत्य है। यह कथन भी सत्य है कि—

सा सा सम्पद्यते बुद्धिः सा गतिः सा च भावना।
सहायास्तादृशा एव यादृशी भवितव्यता॥

किन्तु इतना सब होने पर भी जीव का कर्तृत्व पूर्णरूप से व्याहत नहीं होता। मनुष्य योनि यदि एक ओर भोगभूमि है तो साथ ही कर्मभूमि भी है। भवितव्यता के वश में होकर यदि मनुष्य विधाता की इच्छा का अनुवर्तन करता है तो साथ ही वह अपने परिश्रम से और शुभ कर्मों से आने वाले जन्मों को उत्तम शिक्षा भी प्रदान कर सकता है। ईश्वर भले ही कारयिता हो किन्तु कर्तृत्व जीव के ही पास रहता है। कुछ कर्मों के करने में मनुष्य स्वतन्त्र है तो कुछ कर्मों के लिए वह ईश्वर पर निर्भर होकर परतन्त्र भी हो जाता है। इस समन्वयवादी पक्ष को स्वीकार करके ही समस्या का समाधान निकाला जा सकता है।

कर्मफल का सिद्धान्त

कर्मफल का विषय बड़ा गहन और जटिल है। 'कर्मगतिश्चित्रा' कहकर व्यासदेव ने इसकी दुर्बोध्यता स्वीकार की है। इस सिद्धांत में तो सभी दर्शन एकमत हैं कि कर्मों का फल अवश्य ही मिलता है। शुभकर्मों का फल सुख और अशुभ कर्मों का फल दुःख है। कर्म करने के साथ ही कर्त्ता फल का अधिकारी बन जाता है। गीता में यह जो कहा गया है कि-"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन" इसका अर्थ यह नहीं है कि कर्म कर्ता फल का अधिकारी नहीं। फल का अधिकारी तो वह अनिवार्य रूप से है। इस वाक्य का अभिप्राय यह है कि कर्म करना तेरा कर्त्तव्य है, फल भोगना तेरा कर्त्तव्य नहीं है, वह तेरी अनिवार्यता है। कर्म के पश्चात फल तो बलात् गले पतित हो गया।

कर्मफल की इस अनिवार्यता के साथ जो अन्य प्रश्न उठ खड़े है वे इस प्रकार हैं—

कर्म का फल कौन देता है ? क्या कर्म स्वयम् फल दे सकता हैं ? क्या ईश्वर को फल प्रदाता मानना आवश्यक है ? क्या मनुष्य अपने ही कर्मों का फल भोगता है या अन्यों के कर्मों का फल भी अन्यों को भोगना पड़ सकता है ? क्या कर्मों का क्षय फल भोग के बिना सम्भव हैं ? क्या ईश्वर अपराधों को क्षमा कर सकता है ? ये कुछ प्रश्न हैं जिन पर विचार किया जाना आवश्यक है। यहाँ इन सब प्रश्नों पर विस्तार से विचार करना सम्भव नहीं है। कुछ प्रश्नों पर ही दिङ्मात्र चिन्तन करना उपयुक्त रहेगा।

[कर्मफल कौन देता है ?]

जीवों को उनके कृत कर्मों का फल कौन देता है। इसके उत्तर में दर्शनशास्त्र में दो मत पाये जाते हैं। न्याय दर्शन की मान्यता है कि कर्मों का फल ईश्वर देता है। ईश्वर प्राणिमात्र का नैतिक शासक है और जीवों को न्यायतः कर्मफल प्रदान करता है। मीमांसक आदि दार्शनिक जो ईश्वर का हस्तक्षेप स्वीकार नहीं करते, कहते हैं कि कर्म ही जीवों को स्वयम् फल प्रदान करता है।

क्रम की व्याख्या कर्म स्वयम् कर लेता है। तीव्र संवेग वाले कर्मों का फल शीघ्र मिलता है। यह बात स्वयम् योग दर्शन ने कही है[1]। ईश्वर का कार्य तो सृष्टि स्थिति संहार अनुग्रह और निग्रह करना है। वह केवल फल के लिये उपभोग की सामग्री की रचना करता है। कर्मों का फल देन में उसका साक्षात् हस्तक्षेप नहीं है। कर्म करने के पश्चात् जीव कर्म के बन्धन में तो स्वयम् ही फंस गया। इसमें ईश्वर कुछ नहीं कर सकता। इसीलिये भर्तृहरि ने देवों और विधाता को छोड़कर कर्म की वन्दना करना ही अधिक उपयुक्त समझा है—

नमस्यामो देवान्ननु हतविधेस्तेऽपि वशगा:
विधिर्वन्द्य: सोऽपि प्रति नियत कर्मक फलद:।
फलं कर्मायत्तं किममरगणै: किं च विधिना
नमस्तत्कर्मभ्यो विधिरपि न येभ्य: प्रभवति ॥

—नीति शतक

प्रत्येक मनुष्य अपने ही कर्मों का फल भोगता है

कुछ मनीषियों का मत है कि मनुष्य अपने कर्मों के साथ-साथ अन्य प्राणियों के कर्मों से भी सुख दुख रूप फल भोगता है। तथा एक जीव के कर्मों से अन्य प्राणी सुखी और दु:खी होते हैं। यह सत्य है किन्तु उनका सुख दु.ख अकारण नहीं होता। उसमें उन प्राणियों के अपने कर्म भी सम्मिलित होते हैं। हमारा यह मानना है कि मनुष्य ही नहीं अपितु प्रत्येक प्राणी अपने ही कर्मों का फल भोगता है। उदाहरण के लिये हमने किसी भूखे को भोजन दिया। यह हमारा स्वतन्त्र कर्म था। उस भोजन को खाकर भूखे ने तृप्ति की अनुभूति की। यह उस कर्म का प्रत्यक्ष फल है कि हमारे दिये भोजन से भूखा सुखी हुआ, किन्तु उस भूखे को जो सुख मिला उसमें उसके अपने कर्म भी शामिल थे। आखिर भोजन उसी को क्यों मिला। संसार में तो लाखों लोग

---

१. तीव्र संवेगानामापन्न:—
योग सूत्र १/२१

भूखे हैं। हमारे भोजन-दान के समय वही सामने क्यों आया। इससे यही सिद्धांत सामने आता है कि प्रत्येक मनुष्य अपने ही कर्मों का फल भोगता है। यदि अन्य के कर्मों का फल अन्य को अकारण ही मिलने लगे तो यह कर्मसांकर्य होगा और कष्ट साध्य शुभ कर्मों की ओर लोगों की अरुचि होगी क्योंकि वे यह मानकर सन्तुष्ट हो जायेंगे कि बिना कार्य ही किसी न किसी के कर्म से कभी न कभी वे सुख प्राप्त कर ही लेंगे।

कर्मों का क्षय बिना फल दिये नहीं होता

कर्मों की यह विशेषता है कि वे कर्ता का साथ तब तक नहीं छोड़ते जब तक उनका फल उसे नहीं मिल जाता। कर्त्ता चाहे कितनी भी दूर क्यों न चला जाये, कहीं भी जाकर छिप जाये, चाहे कितने भी युग बीत जायें, किन्तु कृत कर्म कभी भी कर्त्ता का पीछा नहीं छोड़ते। जैसे सद्योजात गाय का बछडा लाखों गांयों के झुण्ड में से अपनी माँ को खोज लेता है, वैसे ही कर्म भी कर्ता को ढूंढ लेता हैं[1]। इसलिये हमारा यह सिद्धात है कि "नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्प कोटि शतैरपि"।

यहां शंका होती हैं कि ऐसी बात है तो गीता में यह क्यों कहां गया कि "ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते ऽर्जुन।" प्रसंख्यान की अग्नि समस्त कर्मों को जला कर राख कर देती है? वस्तुतः यह तर्क निराधार है। ज्ञानाग्नि फल दिये बिना कर्मों का नाश नहीं करती अपितु उस ज्ञान को प्राप्त करने में जो क्लेश साधक को भोगने पड़ते हैं उन क्लेशों से उसके पापकर्म क्षीण हो जाते हैं और ज्ञान को प्राप्त करने के पश्चात् साधक जिस कृतकृत्यता का अनुभव करता हैं वह उसके शुभ कर्मों का फल होती है,

इसी प्रकार ईश्वर भी अपने भक्तों के अपराधों को क्षमा नहीं करता। यदि वह ऐसा करने लगे तो अन्यायी कहलाये। दूसरा दोष यह आयेगा कि अपराधी पहले से

---

१. यथा गवां सहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम्।
तथा स्वात्म कृतं कर्म कर्तारमभिगच्छति ११-महाभारत

भी अधिक अपराध करने लगेगा क्योंकि वह जानता है कि ईश्वर उसके अपराधों को क्षमा कर देगा।

इसका अर्थ यह नहीं है कि पापों की निवृत्ति का कोई उपाय ही नहीं है या उन कर्मों का फल भोगने के लिये समय की प्रतीक्षा की जाये। प्रायश्चित से, यम नियम के सेवन से, ईश्वरोपासना से तथा तप से पाप कर्मों का वेग कम किया जा सकता है। वेदान्त मे कहा गया है कि ईश्वरोपासना के लिये जो उपासक तीव्र तप का आचरण करता है उसके फलीभूत होने पर उसके उत्तर कर्मों का सम्बन्धाभाव और पूर्व कर्मों का विनाश होता है[1]। यही बात छान्दोग्य मे कही गयी है कि ब्रह्मज्ञानी पापों से उसी प्रकार अस्पृष्ट रहता है जिस प्रकार कमल पत्र जलबिन्दु से अस्पृष्ट रहता है[2] इस प्रकार जहां जहां कर्मों के क्षय की बात श्रुति और स्मृतियों में कही गयी है वहां उसका यह अभिप्राय नहीं है कि कर्म का क्षय फलभोग के बिना हो जाता है अपितु यह भाव है कि ईश्वरोपासना ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के लिए किये गये दुष्कर और दुश्चर कष्ट से उन-२ पापों का फल भोग लिया जाता है। इससे उन पाप कर्मों का क्षय हो जाता है।

इस प्रकार कर्म और कर्मफल का यह रहस्य बड़ा दुर्ज्ञेय है। श्रुति और स्मृतियों ने इसकी दुर्गमता को दूर करने के लिये पर्याप्त माथापच्ची की हैं फिर भी इसका अधिकतम भाग रहस्यमय ही रह जाता है।

१. तदधिगम उत्तर पूर्वाघ्योर श्लेष विनाशौ तद्व्यपदेशात्—

ब्र.सू. ४-१-२३

२. यथा पुष्कर पलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पाप कर्म न श्लिष्यते—

छान्दोग्य ४-१४-३

गीता में कर्मवाद का सिद्धांत

शशिभानु विद्यालंकार

कुरुक्षेत्र के युद्ध के मैदान में जब अर्जुन युद्ध करने के लिए मना कर देता है तो श्रीकृष्ण उससे कहते हैं कि क्षत्रिय धर्म का पालनकरो। गीता मे निष्काम कर्म योग के विषय में उक्ति है– "कर्मण्ये वाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन" अर्थात् हे मनुष्य तेरे को केवल कर्म करने का अधिकार है उसका फल क्या मिलता है इस विषय पर तेरा कोई भी अधिकार नहीं है।

गीता के अनुसार मनुष्य की प्रवृत्ति उससे कर्म करवाती है। सदैव कर्म करते रहना प्रकृति का नियम है। मनुष्य प्रकृति के सिद्धांतों में बंधा हुआ है व उसके नियम सिद्धांतों के द्वारा संचालित है।

गीता में निष्काम कर्म योग को अनेक प्रकार से समझ या गया है "स्थित प्रज्ञ" और "नियत कर्म" अर्थात् अपने लिए निर्धारित कर्म करना गीता मे स्थान-२ पर इस विषय में चर्चा मिलती है। फल के विषय मे गीता में लिखा है कि फल मनुष्य के हाथ में नहीं है। मनुष्य के हाथ में तो सिर्फ कर्म ही हैं। काण्ट के ' निरपेक्ष आदर्श" के अनुसार मनुष्य को सिर्फ कर्म करना चाहिए उसके फल की आशा नहीं करनी चाहिए।

गीता सद्भावना पूर्व किये गये कर्मों की प्रसंशा करती है। यद्यपि काण्ट कठोरता पूर्वक नैतिक आदेश का पालन करने को कहता है। काण्ट के अनुसार कर्म का लक्ष्य कुछ नही। लेकिन गीता के मतानुसार कर्म का लक्ष्य ईश्वर हैं। काण्ट मानता है कि मनुष्य में भावना नही होनी चाहिए। यहां पर काण्ट कुछ कठोर बनकर सामने आते हैं। गीता में भावना के रूपान्तरण एवं दैवीकरण करने पर बल दिया गया है। काण्ट 'कर्त्तव्य' को परम लक्ष्य मानता है व गीता "ईश्वर" को परम लक्ष्य मानती है।

गीता के निष्काम कर्म का अर्थ हैं कि कोई भी कार्य करो उसमें फल की इच्छा मत करो फल की इच्छा रखने वाले व्यक्ति का चित्त चंचल हो जाता है। अतः उसे इस कार्य को पूर्ण करने में बाधा आती है। कार्य की

सफलता पर मनुष्य को प्रसन्नता होती है व कार्य की विफलता पर दुःख व पश्चात्ताप के कारण वह विचलित हो ज ता है और उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। सफलता अर्थात् कुछ प्राप्त करने की इच्छा मनुष्य को लालची बना देती है, इसी कारण वह स्वार्थी भी बन जाता है। यही स्वार्थ पाप का कारण होता है अतः लोभ जैसी घृणित वस्तु से स्वयं को बचाने के लिए मनुष्य को फल की प्राप्ति की इच्छा नहीं करनी चाहिये। इन्हीं तमाम बुराइयों से बचने के लिए मनुष्य सफलता व असफलता का मोह छोड़े, श्री कृष्ण के इस उपदेश को अपनाना चाहिए। गीता में कर्म ही पूजा है, धर्म का यह सिद्धांत इस देश या इस काल में नहीं, अपितु समस्त देशों व कालों में अपनाया गया है। अतः यह सिद्धांत शाश्वत जीवन का वह केन्द्र है जिसके चारों ओर जीवन की परिधि सांस लेती है।

ज्ञान योगः—

ज्ञान योग की परम्परा बहुत प्राचीन है। इसका वर्णन गीता में किया गया है। श्री कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि इस अनश्वर योग को मैंने विवस्वान् को बताया, उस विवस्वान् ने इसे मनु को बताया तथा मनु ने इसे इक्ष्वाकु को बताया[1]। इस प्रकार इस परम्परागत योग को राजर्षियों ने दूसरे से सीखा अन्त मे हे शत्रुओं को सताने वाले (अर्जुन) बहुत काल बीत जाने पर वह योग लुप्त हो गया[2]। कोई भी परम्परा उस काल तक होती है जब तक कि उस वास्तविकता के प्रति जिसका कि वह प्रतिनिधित्व करती है पर्याप्त प्रतिभा जगाने में समर्थ होती है। वही प्राचीन योग मैंने तुझे बताया है क्योंकि तू मेरा भक्त हैं और यह योग का सबसे श्रेष्ठ रहस्य है[3]। अर्थात् गुरु बताना

---

१. इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राप्त मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥

२. एवं परम्पराप्राप्तामिमं राजर्षयो विदुः।
स कालनेह महता योगो नष्टः परं तप ॥

३. स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥

है कि वह किसी नये सिद्धांत की स्थापना नहीं कर रहा अपितु केवल एक पुरानी परम्परा की एक सनातन यथार्थता की पुन: स्थापना भर कर रहा है जो गुरूओं द्वारा शिष्यों को दी जा रही है। श्री कृष्ण का यह उपदेश बहुत पहले विस्मृत हो चुके ज्ञान की पुन: स्थापना है सभी महान् उपदेशकों ने जैसे गोतम बुद्ध, महावीर, शंकराचार्य और रामानुज ने यही कहने में आनन्द अनुभव किया है कि वे पुराने गुरुओं की शिक्षाओं को ही फिर नये सिरे से बता रहे हैं। मिलिन्द के अनुसार बुद्ध ने उस प्राचीन मार्ग को ही फिर बताया है जो कुछ समय के लिए लुप्त हो गया था, कोई भी महान व्यक्ति मौलिकता का दावा नहीं करता अपितु जोर देकर अपने तथ्य के समर्थन में कहते हैं कि वह उसी सत्य का प्रतिपादन कर रहा है जिसके द्वारा सब शिक्षाओं का मूल्य आंका जाता है।

श्रीमद् भगवद्गीता में ज्ञान की बहुत अधिक प्रसंशा की गई है क्योंकि ज्ञान के द्वारा मन के सब सन्देह दूर हो जाते हैं साथ ही यह भी ज्ञान योग में दिखाया गया है कि ज्ञान कर्म के ऊपर आश्रित है। हे शत्रुओं को सताने वाले अर्जुन द्रव्यात्मक यज्ञ की अपेक्षा ज्ञानमय यज्ञ अधिक अच्छा है क्योंकि सब प्रकार से समस्त कर्म ज्ञान में जाकर समाप्त हो जाते हैं। लक्ष्य जीवन देने वाला ज्ञान है जो हमें कर्म की स्वतन्त्रता प्रदान करता है और कर्म के बन्धन से मुक्ति दिलाता है। अत: हे अर्जुन ! तू उस ज्ञान को समझ ब्रह्मनिष्ट आचार्य के पास जा कर उनको भली-भाति दण्डवत् प्रणाम करने से, उनकी सेवा करने से और कपट को छोड़कर सरलता पूर्वक प्रश्न करने से परमात्म तत्व की भली भांति जानने वाले से ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्व ज्ञान का उद्देश्य करेंगे [1]।

---

१. श्रेयान् द्रव्यमय यज्ञाज्ज्ञानयज्ञ: परं तप।
सर्व कर्माखिलं पार्थ ईाने परिसमाप्यते ॥
प्रणिपातेन प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञान ज्ञानिनस्तत्वदर्शिन: ॥

इण्डियन कौंसिल आफ फिलासफिकल रिसंच द्वारा प्रयोजित क्षेत्रीय सेमिनार गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार में प्रस्तुत २४-२६ ३/८३

भारतीय चिन्तन में कर्म और व्यक्ति स्वातन्त्र्य

मधुकर श्रीवास्तव

दर्शन विभागाध्यक्ष, एम०एच० कालेज

लाजपतनगर मुरादाबाद

जिस प्रकार विज्ञान में घटनाओं की व्याख्या द्रव्य की अविनाशिता का नियम, तथा क्रिया–प्रतिक्रिया का नियम करता है, उसी प्रकार व्यक्ति के जीवन एवं आचरण मे घटनाओं की व्याख्या कर्म का सिद्धांत करता है। कर्म का सिद्धांत नैतिक शक्ति के संरक्षण का सिद्धान्त है[1]। कर्म सिद्धात के अनुसार नैतिक जगत् में अनिश्चित एव मनमाना कुछ भी नहीं है। हम वही फल पाते है जिसके बीज हमने स्वयं ही रोपे होते हैं।

कर्म सिद्धान्त भारतीय धर्म एवं दर्शन की अनुपम खोज है। कर्म सिद्धान्त पर ही आधारित हैं हिन्दू धर्म एवं समाज का गौरवशाली चिन्तन। कर्म सिद्धान्त ही वह बीज है, जिसने पुनर्जन्म पुरुषार्थ, आश्रम व्यवस्था, वर्णव्यवस्था, षोडश संस्कार जैसे नैतिक सिद्धान्त पुष्पित कर भारतीय चिन्तन को फलने फूलने और विश्वव्यापक सुगन्ध बिखेरने का अवसर प्रदान किया है।

कर्म का सिद्धान्त न केवल एक दार्शनिक अवधारणा, बल्कि वैज्ञानिक सिद्धांत भी है। यही कराण है कि आजकल ज्ञान की एक नई विद्या तेजी से विकसित हो रही है जिसे फिजिक्स आफ 'कर्म या कम का भौतिकविज्ञान नाम दिया गया है, जिसके अनुसार कर्म' एक भौतिक घटना (Action/Act है। और 'कर्म' रूप कारण (Cause) से उत्पन्न होने वाला 'फल' रूपी कार्य (Effect) भी एक भौतिक घटना या क्रिया या परिणाम है। यदि वह घटना प्रत्यक्षतः भौतिक न होकर मानसिक भी हो तो भी मन का शरीर पर और शरीर का मन पर पड़ने वाला प्रभाव (क्रिया अन्तःक्रिया) इसे भौतिक रूप ही प्रदान करता है[2]।

१. डा० राधाकृष्णन् भारतीय दर्शन P-२००

२. योग वशिष्ठ ३६५/१६-२०

विज्ञान का सिद्धान्त है जिसे फिजिक्स में न्यूटन का शक्ति का तीसरा नियम कहते हैं, स्पष्ट करता है कि—'Every action makes its equel and opposite reatcion.' प्रत्येक क्रिया की समान एवं विपरीत प्रतिक्रिया होती है। किसी गेंद को धरती पर जितनी शक्ति से दबाकर फेंका जायेगा वह प्रतिक्रिया में उतनी ही शक्ति से विपरीत दिशा में उछलेगी। क्रिया के अनुपात में ही प्रतिक्रिया होती है। यही बात कार्य-कारण नियम बताता है।

कर्म सिद्धान्त भी इसी मत का पोषक है।' आम के बीज से आम और नीम से नीम ही निकलेगा। कहा भी है कि बोया बीज बबूल का तो आम कहां से होय हम जीवन में वही पाते हैं कि जिसके बीज रूप 'कर्म' हमने बो रखे होते हैं। कर्म कर्त्ता का जनक हैं, और कर्त्ता फिर अपनी क्रिया से कर्म उत्पन्न करता है। ऐसी अवस्था में कर्म और कर्त्ता परस्पर जनक हैं। जैसे वृक्ष से बीज और बीज से वृक्ष उत्पन्न होता है। इसी तरह कर्त्ता से कर्म और कर्म से कर्त्ता का चक्र चलता रहता है। तथा यह निश्चित नहीं हो पाता कि कर्म पहले उत्पन्न हुआ या कर्त्ता[1]

आवागमन तथा कर्म का सिद्धान्त कहाँ से निकला यह विवाद का विषय है, परन्तु सर्व प्रथम इसका विस्तृत उल्लेख ब्राह्मण ग्रन्थों में मिलता हैं। उपनिषद् सर्व-प्रथम इसे कार्य कारण सिद्धांत रूप में प्रस्तुत करते है। यह सिद्धान्त आर्यों ने प्रचारित किया परन्तु कुछ आदिम जन-जातियों का यह विश्वास है कि मृत्यु के पश्चात् उनकी आत्मा कर्मानुसार पशु शरीर में निवास करती है यह बताता है कि इस सिद्धान्त का न्यूनाधिक उन्हें भी ज्ञान अवश्य था।

प्रारम्भ में इस सिद्धान्त को कार्य और कारण के नियमानुसार ही स्वीकार किया गया। जीवात्मा अपने कर्म के अनुसार बार-बार जन्म ग्रहण करती है और बार-बार उसकी मृत्यु होती है। छान्दोग्य उपनिषद् व वृहदारण्यकोपनिषद् कर्मवाद तथा पुनर्जन्म की विस्तृत विवेचना करते हुए "मनुष्य का इस जन्म का चरित्र उसके दूसरे जन्म की अवस्था का निर्णायक होता है। अच्छे कर्मों का शुभ फल और बुरे कर्मों का बुरा फल मिलता है[2]।' कर्म सिद्धान्त का विकास होने से यह स्पष्ट हुआ मनुष्य का मन, शरीर,

---

१. योग वशिष्ट

२. छान्दोग्य उपनिषद् ५/१०/७

एवं चरित्र पहले कर्मों का फल है। तथा एक जन्म के कर्म दूसरे जन्मों तक की योजना का निर्धारण कराते हैं। प्रत्येक जीव को उसके कर्मों का फल अवश्य ही भोगना पड़ता हैं। यह सिद्धांत भारतीय चिन्तनमें चार्वाक को छोड़ कर सभी दार्शनिक सम्प्रदाय स्वीकार करते हैं[1]। कर्म अपने फलों को भोगे बिना नष्ट नहीं होते, चाहें सैकड़ों कल्प क्यों न व्यतीत हो जायें, नामुक्त क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि,। महाभारत के शान्ति पर्व में कर्म का भावी जीवन पर होने वाला प्रभाव बड़े सुन्दर ढंग से कहा गया है– "यथा धेनु स्हस्त्रेषु वत्सो विन्दति मातरम्। तथा पूर्व कृतं कर्म कर्त्तारमनुगच्छति[2]।" कर्म का सिद्धांत हिन्दू सामाजिक संगठन का आधार है। आत्मा की अमरता का सिद्धांत, स्वर्ग–नरक की परिकल्पना, पुनर्जन्म का विचार, सभी कर्म सिद्धांत के चारों ओर रहते हैं। आत्मा अजर अमर अविनाशी है। कर्मानुसार जीव की मृत्यु और फिर पुनर्जन्म होता है। कोई व्यक्ति कब कहां और कैसे माता पिता के घर जन्म लेगा इसका निर्धारण भी कर्म सिद्धान्त से ही किया जाता हैं।

विश्व कर्म प्रधान है। कर्म का संस्कार ही मानव की मूल शक्ति है। इसी के अनुसार मनुष्य के भाग्य का निर्णय होता है। गोस्वामी तुलसीदास का कथन, कर्म प्रधान विश्व रचिराखा, जो जस कर ही सो तसि फल चाखा, इसी की महिमा बखान करता है। कर्म की महिमा इसी बात से जानी जा सकती है कि वह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड तथा चराचर विश्व को व्याप्त किये हुए है। प्रलय के उपरान्त चतुर्दश लोकों में नवीन जीवन सृष्टि समिष्टि जीवों के पूर्व कर्म के अनुसार होती है। सभी देवताओं द्वारा संसार की रक्षा भी कर्म चक्र का ही परिणाम है। इसी आधार पर समस्त देवता गण अपनी-अपनी गतियों को प्राप्त करते हैं। निखिल ब्रह्माण्ड में देव, ग्रह नक्षत्र तथा चराचर सभी कर्म के कारण स्थित तथा गतिमान हैं। सात्विक कर्मों का फल उर्ध्व सप्तलोक और तामसिक कर्म के तारतम्य से अधः सप्तलोकों की प्राप्ति होती है। कर्म भेद के कारण मनुष्य अनेक योनियों जैसे देव योनि, मनुष्य योनि त्रियंक योनी

१. डा० जयदेव वेदालंकार 'भारतीय दर्शन की समस्याएं P–२८९

२. महाभारत शान्ति पर्व १८१/१६

आदि में भ्रमण करता है। इसी के अनुसार वह लोक लोकान्तर में जाता है। सत्वगुणात्मक कर्म पुण्य और तमोगुणात्मक कर्म पाप माने जाते हैं। सत्व कर्म करने वाला जीव अन्तकरण शुद्ध होने से परमानन्द मोक्ष को प्राप्त करता है। तमोगुणी और पाप कर्म करने वाला प्राणी अज्ञान और कर्म बन्धन में पड़ा रहता है। इसलिये कर्म के क्षेत्र में मनुष्य को पूर्णतः विचार करके ही कर्म करना आपेक्षित है। यदि कोई व्यक्ति अपना भविष्य तथा भविष्य का जीवन सुखमय बनाना चाहता है तो उसे उसके लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए क्योंकि, प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपने भाग्य का विधाता है। वर्तमान जीवन अतीत कर्मों का फल है, और भविष्य का जीवन वर्तमान कर्मों का ही परिणाम होना सुनिश्चित है।

भारतीय चिन्तन विशेषकर वैदिक साहित्य में कर्म तथा पुनर्जन्म का सिद्धान्त बड़ा महत्वपूर्ण सिद्धान्त रहा है। भारतीय दर्शन जैसे सांख्य योग, न्याय वैशेषिक वेदान्त मीमांसा आदि एक दूसरे के विचारों की कड़ी आलोचनाएं करते हैं। परन्तु सभी ने कर्म के सिद्धांत और पुनर्जन्म में विश्वास के सम्बन्ध में एक स्वर होकर समर्थन किया है।

कर्म सिद्धान्त के प्रतिपादन से दुष्कृत्यों के प्रतिकार की प्राचीन भावना द्वारा सम्भवतः सत्कर्मों को प्रोत्साहित करने की भावना विकसित हुई। ब्राह्मण ग्रन्थों में सदाचार का फल और दुराचरण के कष्टों का व्यापक वृतान्त मिलता है।

मनुष्य अपने सद्कर्मो से अपना भविष्य बनाता है। अच्छे कर्मो वाला अच्छी योनि में जन्म लेगा और दुष्कर्मों वाला निम्न योनि में जन्म पाकर कर्मों का भोगमान करेगा। दुष्कर्म अपना फल गाय की भांति तुरन्त नहीं देते बल्कि कर्त्ता की जड़ों को ही कुतर डालते हैं[1]। कर्मानुसार जीव को चौरासी लाख योनियों से होकर गुज़रना पड़ता है। इन योनियों में मनुष्य योनि ही कर्म योनि हैं। कर्म योनि का अभिप्राय है व्यक्ति को उसके कर्मानुसार भावी जीवन के निर्धारण की स्वतन्त्रता देना। मनुष्य योनि

---

१. आदि पर्व, ८०/२ व मनुस्मृति ४/१७

बड़ी दुर्लभ है। 'बड़े भाग्य मानुष तन पावा' कहकर सन्तों और ऋषियों ने इसी ओर संकेत किया है। मनुष्य योनि के अतिरिक्त समस्त योनियां भोग योनि कही गई हैं। जिसमें जीव केवल अपने पूर्व-कर्मों के कारण भिन्न प्रकार के फल भोगता रहता है। परन्तु मनुष्य योनि पाने का अर्थ है सुधार का अवसर पाना संकल्प की स्वतन्त्रता मिलना और इस अर्थ मे व्यक्ति स्वातन्त्र्य का अभूतपूर्व अवसर हासिल करना। इसी कारण सभी धर्म और दर्शन केवल मानव मात्र का आह्वाहन करते हैं !

कर्म सिद्धान्त जहां प्रत्येक घटना का वर्णन कर्म फल के रूप में निरूपित करता है, वहीं वह व्यक्ति की स्वतन्त्रता का भी महत्व बताता है। हम अपने भविष्य के निर्माता स्वयं हैं। इस रूप में हम संकल्प की स्वतन्त्रता और पुरुषार्थ से मनोवांछित फल की कामना भी कर सकते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण का चरैवेति ·····चरैवेति गीत उद्घोषित करता है कि जो बैठा रहता है, उसका सौभाग्य भी बैठा रहता है। पर जब कोई कर्म हेतु उठ खड़ा होता है, तो उसका सोया सौभाग्य भी जाग उठता है। अतः कर्मशील बनो[1]। अथर्ववेद की घोषणा है मेरे दाहिने हाथ पुरुषार्थ और बायें हाथ में सफलता रखी है। "कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो में सव्य आहित.[2]"

कर्म का अर्थ केवल भाग्यवाद नहीं है। हम भाग्य के भरोसे या दैव इच्छा पर निर्भर होकर बैठे न रहें। कर्म का सिद्धात व्यक्ति स्वातन्त्र्य को समर्थन करता है। व्यक्ति स्वतन्त्र है। वह अपनी इच्छानुसार कर्म करने हेतु स्वतन्त्र है। वह अपने विवेक से ही कर्म का चुनाव करता है, और उससे अपने भविष्य का निर्धारण कर सकता है। वह केवल अतीत के कर्मफल से बद्ध नहीं, वर्तमान में उसे कर्मों के चुनाव का 'स्वातन्त्र्य' है। ईश्वरवादी भक्तों का तो विश्वास है कि कर्म ईश्वर की भक्ति प्रदान करता है। भगवत्कृपा से अतीत के कर्म भी नष्ट हो जाते हैं। मनुष्य योनि में व्यक्ति स्वातन्त्र्य का अवसर होता है, अतः उस पर नैतिक दायित्व और भी बढ़ जाता है। कर्म में व्यक्ति स्वातन्त्र्य है, परन्तु फल किसी परम् नैतिक सत्ता के अधीन है। भक्तों

१. ऐतरेय ब्राह्मण चरैवेति-चरैवेति

२. अथर्व वेद, ७/५२-८

में वह ईश्वर है। ईश्वर ही व्यक्ति द्वारा चुने गये कर्मों का फल प्रदान करता है। मनुष्य योनि मिलने पर संकल्प की स्वतन्त्रता मिलती है। और वह अपने 'अदृष्ट' को बदल सकता हैं। इसीलिये मनुष्य योनि में ही 'मोक्ष' प्राप्त करने का उत्तरदायित्व माना हैं।

मनुष्य इच्छा शक्ति का प्राणी है। इस संसार में जैसी उसकी भावना होगी, मृत्यु के पश्चात उसी प्रकार का वह बन जायेगा[1] छान्दोग्य उपनिषद तथा बृहदारण्यक उपनिषद इसी ओर संकेत कर कहते हैं व्यक्ति जैसा बनना चाहेगा वह तदनुसार कार्य कर उसे प्राप्त कर सकता है। कर्म के सिद्धान्त के साथ ही व्यक्ति स्वातन्त्र्य को स्वीकार करते हुए शतपथ ब्राह्मण कहते हैं, यह बात मनुष्य की इच्छा शक्ति पर ही निर्भर है, कि उसे मृत्यु के पश्चात कौन सा लोक प्राप्त होगा[2]। प्रत्येक व्यक्ति अपने मन के अनुसार निर्मित लोक में जन्म लेता है। जो जैसा कार्य करता हैं वैसा फल पाता है। जो जैसा कर्म करता है वैसा ही फल पाता है। शतपथ ब्राह्मण का मत है कि जो देवों के लिये यज्ञ करता है, वह उस लोक को नहीं पाता जो आत्मा के लिये यज्ञ करने वाला प्राप्त करता है[3]। आत्मा के लिये यज्ञ करने वाला अपने शरीर से उसी प्रकार मुक्ति पाता है, जिस प्रकार सर्प अपने केंचुल से अलग हो जाता है।

व्यक्ति कर्म करने के लिए स्वतन्त्र है। पुरुपार्थ के बल पर वह असम्भव को भी सम्भव कर सकता है। वह रेत से भी झरना निकाल सकता है पत्थर से सुन्दर आकृतियां व्यक्त कर सकता है, तब क्यों नहीं वह अपने पुरुषार्थ से अपना ही भविष्य निर्मित करेगा ? भाग्य या दैवइच्छा के आश्रित रहने की आवश्यकता नहीं व्यक्ति कर्म स्वातन्त्र्य द्वारा अपना भविष्य निर्मित करने को स्वतन्त्र है। शास्त्र कहते है पौरुष ही सर्वत्र कर्म करता है। दैव नहीं 'पौरुषं सर्व कर्माणां कुर्तृ राघव नेतरत्, न दैवं तत्र कारणम्[4]'' मीमांसा का मत है–'जो लोग कर्म न करके भाग्य के सहारे बैठे रहते है, वे

---

१. छन्दोग्य उपनिषद्, ३/१४, बृहदारण्यक उपनिषद ४/४-५

२. शतपथ ब्राह्मण ११/२, ३/१३-१४,

३. शतपथ ब्राह्मण

४. यो० वा० मु० प्र० ६/११

अपना धर्म, अर्थ काम, मोक्ष, सभी नष्ट करते है। वे दैव को सब कुछ मानकर ही पुरुषार्थ हीन हो जाते हैं। ऐसे लोगों के पास से लक्ष्मी भी वापिस हो जाती है। शास्त्र कहते है–ते धर्म अर्थ कामञ्च नाशयत्यात्मविद्विषः तथा 'अदृष्ट श्रेष्ठ्य बुद्धिनां दृष्ट्वा लक्ष्मीर्निवर्तते,[1]

इस सन्दर्भ में गीता के छठवे अध्याय का स्मरण करना चाहूंगा जिसमें कहा है प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः अनेक जन्मसंसिद्धस्ततो याति परा गतिम[2] अर्थात् प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करने वाला योगी तो पिछले जन्म के संस्कार बल से इसी जन्म में ससिद्ध होकर पापों से रहित हो फिर तत्काल परमगति को प्राप्त हो जाता है। मनुष्य कर्म करने के लिए स्वतन्त्र है जबकि कर्मों का फल उसे इस जीवन के बाद भी मिलता रहता है। 'कर्म और भोग के मध्य सैकड़ों हजारों जातियों, दूर अति दूर के देशों और करोड़ों कल्प समय का अन्तर रह सकता हैं। उनके आनन्तर्य में कुछ भी हानि नहीं हो सकती अपितु पूर्ण समन्वय एवं सामन्जस्य बना रहता है। जैसा कि कहा भी है "जातिदेशकालण्यहितानामपि-आन्तर्य स्मृति संस्कारयोः एक रूपत्वात्'[3] इस प्रकार यह निश्चित है कि हमारे जीवन में कुछ परिणाम ऐसे हो सकते है जिन्हें देखकर हमें आश्चर्य हो। यह वास्तव में पूर्व जन्मों के संचित कर्मो का प्रभाव हो सकता है। जैसा कि कर्मों के तीन विभाग कर प्रारब्ध संचित एवं क्रियमाण नाम दिये गये हैं। ये सञ्चित कर्म ही होते हैं जो अशुभ कर्मो का कर्त्ता भी सुखी और शुभ कर्म का कर्त्ता दुखी दिखाई पड़ता है। क्योंकि प्रारब्ध तो वे कर्म है जो हमारे वर्तमान जीवन को चला रहे हैं, और जिसका फल भोगना अनिवार्य है। संचित कर्म वे कर्म हैं, जो पहले से एकत्रित हैं, और प्रायश्चित से दूर किये जाने योग्य माने गये है। यह प्रायश्चित 'कर्म' द्वारा भी हो सकता है और ज्ञान द्वारा भी क्रियमाण वे कर्म हैं जो वर्तमान में किये जाते हैं जिसका फल साथ ही साथ उत्पन्न होता है। और जो भविष्य का निर्धारण भी करते है।

१. यो० वा, मु० प्र० १६/३, ५/२०
२. गीता, ६/४५
३. डा० जयदेव वेदालंकार, भारतीय दर्शन की समस्याए P-२६२

वैशेषिक दर्शन में कर्म, धर्माधर्म एवं अदृष्ट

–डा० (श्रीमती) शशिप्रभा कुमार रीडर, संस्कृत विभाग
मैत्रेयी कालेज (दिल्ली विश्वविद्यालय)

भारतीय दर्शन परम्परा में कर्म सिद्धान्त एक अन्य मौलिक सिद्धान्त है। भौतिकवादी चार्वाक दर्शन के अतिरिक्त सभी भारतीय दार्शनिक इस सिद्धान्त को किसी न किसी रूप में स्वीकार करते हैं। इस सिद्धांत का मूल आधार यह मान्यता है कि कर्म ही जगद्वैचित्र्य का कारण है, मनुष्य जैसा कर्म करता है वैसा ही फल पाता है तथा एक व्यक्ति के लिए कर्म का फल कोई दूसरा नहीं भोग सकता–सभी को अपने अपने कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता हैं, यद्यपि भविष्य में शुभ या अशुभ करने के लिए सब स्वतन्त्र हैं। इस दृष्टि से कर्म सिद्धान्त भारतीय चिन्तन का एक विलक्षण, व्यापक एवं उदात्त केन्द्रीय बिन्दु है,

आस्तिक षड्दर्शनों में अन्यतम वैशेषिक दर्शन में भी इस सिद्धान्त की स्पष्ट स्वीकृति रही है। वैशेषिक दर्शन सप्तपदार्थवादी है, उसके द्वारा स्वीकृत सात पदार्थों[1] में 'कर्म' एक पदार्थ एक पारिभाषिक पद है और कर्म-सिद्धान्तपरक नहीं, अपितु क्रियापरक अथवा गतिपरक है[2]। अन्य दर्शनों में जिसे 'कर्म' कहा गया है, उसका समानान्तर वैशेषिक दर्शन में धर्म–अधर्म ही है, जिसे अदृष्ट भी कहा जाता है। अतः इस पृष्ठभूमि में कर्म-फल के सन्दर्भ में धर्म–अधर्म अथवा अष्दृट का विवेचन ही प्रस्तुत निबन्ध का प्रतिपाद्य है।

---

१. सूत्रकार कणाद ने पदार्थों की संख्या छः ही मानी थी किन्तु बाद में अभाव नामक सातवां पदार्थ भी इस सूची में समाविष्ट कर दिया गया। इस विषय में विशेष विस्तारहेतु द्रष्टव्य–वैशेषिक दर्शन में पदार्थ-निरुपन शशिप्रभा कुमार, दिल्ली विश्वविद्यालय, १९९२, पृ. २३-३५

२. एकद्रव्यमगुणं संयोगविभागेष्वनपेक्षकारणमिति कर्मलक्षणम्।
–वै. सू. १-१-१७

तात्त्विक एवं व्यापक दृष्टि से विचार करने पर कर्मसिद्धान्त कारणता नियम पर प्रतिष्ठित प्रतीत होती है। तदनुसार प्रत्येक कारण का कोई न कोई कार्य होता है और वह कार्य पुनः एक ऐसी शक्ति को जन्म देता है जो इस जगत् में दृश्यमान वैविध्य का निर्धारण करती है। यही अदृश्य शक्ति मीमांसा दर्शन में अपूर्व वेदान्त दर्शन में प्रारब्ध कर्म, न्यायदर्शन मे धर्म–अधर्म तथा वैशेषिक दर्शन में अदृष्ट कही गई है[1]। अदृष्ट पद 'दर्शनार्थक √दृश् धातु से व्युत्पन्न है और इस अर्थ में सर्वप्रथम कणाद के वैशेषिक सूत्रों में ही प्रयुक्त हुआ है[2]। उल्लेखनीय है कि वैशेषिक सूत्रों में अदृष्ट का प्रयोग कारणता की व्याख्या के विषय में ही हुआ है। जिन कार्यों के कारण दृष्ट या ज्ञात नहीं होते, उन्हें कणाद 'अदृष्टकारित' कहते हैं। जैसे मणि का चोर की तरफ जाना, सुई का चुम्बक के प्रति अभिगमन अथवा अग्नि का ऊर्ध्वज्वलन ये सब अदृष्ट कारणों से जन्य है[3]। यहाँ तक कि सृष्टि के आदि में परमाणु का प्रथम आरम्भक संयोग भी अदृष्टकारित कहा गया है[4]। अतः इस दृष्टि से अदृष्ट को सार्वभौम, अन्तिम कारण कहा जा सकता है[5]।

शाब्दिक दृष्टि से 'अदृष्ट' का अथ है–न देखा गया न जाना गया अथवा न अनुभव किया गया। इस रूप में यह उन सभी प्राकृतिक या भौतिक घटनाओं के कारणों को प्रकट करता है, जो अदृश्य या अज्ञात हैं। न्याय भाष्यकार वात्स्यायन के वचन से भी यही प्रमाणित होता है[6]।

---

१. न्यायकोश, भीमाचार्य झलकीकर, पृ. ६०

२. दृष्टादृष्ट प्रयोजननां दृष्टाभावे प्रयोजनमभ्युदयाय।–वै. सू ६.२.१

तथा–दृष्टेषु भावाददृष्टेष्व भावात्।–वै. सु. ८-२-२

३. वै. सू. ५.१.१५, ५.२.२, ५.२.८

४. अग्नेरूर्ध्वज्वलनं वायोश्च तिर्यक्पवन मणुमनसोश्चाद्यं कर्मेत्यदृष्टकारितानि।–वै. सू. ५. २.१४

5. Seal, B. N. Positive Sciences of the Ancient Hindus, P.132

६. अदर्शनं स्वल्वदृष्टमुच्यते अदृष्टकारिता।

—न्या. भा. (न्या. सू. ३.२.६८)

व्यावहारिक अथवा नैतिक दृष्टि से 'अदृष्ट' की भिन्न व्याख्या भी संभव है-यह विविध विश्व एवं इसमें व्याप्त सुख-दुःख किसी न किसी कारण से जन्य होने चाहिए और कोई दृष्ट कारण न होने से जीवों के भिन्न-भिन्न रूप, आयु एवं भोगों का कारण 'अदृष्ट' को ही मानना पड़ता है[1]। इस अर्थ में अदृष्ट जीवों के धर्म-अधर्म का वाचक माना गया है[2]। अपने कर्त्तव्याकर्त्तव्य का अनुष्ठान करना, न करना धर्म और इससे विपरीत अधर्म होता है। प्रत्येक व्यक्ति कुछ कार्य ऐसे करता है जिनका फल एवं प्रयोजन दृष्ट होता है किन्तु कुछ ऐसे भी कर्म होते हैं जिनका फल इस लोक में या इस देह के रहते नहीं मिल पाता (जैसे वाजपेय आदि अनुष्ठान) -उनका फल अदृष्ट समझना चाहिए ऐसे प्रसंगों में कर्म अथवा अनुष्ठान तो दृष्ट है किन्तु उसका फल दृष्ट नहीं माना जा सकता-देहान्तरप्राप्ति पर फलभोग मिलने के कारण उसे अदृष्ट कहा जाता है। अनुष्ठान क्रियारूप है, वह पूरा होने पर समाप्त हो जाता है। अनुष्ठानकाल का देह भी कालान्तर में समाप्त हो जाता है। अनुष्ठाता आत्मा में अनुष्ठान से 'धर्म' नामक गुणविशेष अभिव्यक्त हो जाता है। यह उस समय तक विद्यमान रहता है, जबतक जन्मान्तर में आत्मा अनुष्ठित कर्म का फल नहीं भोग लेता। इसी प्रकार निषिद्ध कर्मों का अनुष्ठान आत्मा में 'अधर्म' नामक गुणविशेष को अभिव्यक्त करता है। ऐसे धर्म-अधर्म को अदृष्ट' पद से कहा जाता है[3] क्योंकि ये अनुष्ठान-कालिक देह में अनुष्ठित कर्मफल के प्रयोजक न होकर जन्मान्तर में प्राप्त देह में फल के प्रयोजक होते है। अतः जीवों के शुभ अशुभ कर्मों के फलरूप में धर्म-अधर्म भी 'अदृष्ट' कहे गये हैं।

उल्लेखनीय है कि प्राचीन वैशेषिक सूत्र-परम्परा में अदृष्ट पद द्विविध क्रियाओं को व्यक्त करता है—

(क) भौतिक अथवा प्राकृतिक घटनाओं के अज्ञात काणर के रूप में

(ख) जीवों के धर्म-अधर्म अथवा कर्मफल के रूप में

१. न्यायमंजरी, भाग २, पृ. ४२-४३

२. धर्माधर्मावदृष्टं स्यात्।—कारिकावली, कारिका १६१

३. वै. सू. ६.२.१ तथा उस पर उदयवीर शास्त्री प्रणीत विद्योदय भाष्य, पृ. २१८

यद्यपि कणाद के वैशेषिक सूत्रों में जो सत्रह गुण निर्दिष्ट हैं, उनमें धर्म-अधर्म का समावेश नही है, तथापि वहां 'अदृष्ट' पद एवं उसके विविध कार्यों का स्पष्ट संकेत है। वैशेषिक सूत्रों की एक प्राचीन व्याख्या मे तो 'अदृष्ट' पद शुभ एवं अशुभ कर्मफलों के अर्थ को ही संकेतित करने वाला कहा गया है जहां भूकम्प आदि प्रकृतिक घटनायें पृथ्वीनिवासियों के शुभाशुभसूचक मानी गई हैं[1]। यदि कर्म सिद्धान्त के आधार पर इसकी व्याख्या की जाये तो स्पष्ट यह एक प्रकार के सामूहिक कर्म का सूचक होगा[2]। उपस्कार कर्त्ता शङ्करमिश्र ने भी अदृष्ट की व्याख्या कर्मफल के रूप में ही की है तथा इस सन्दर्भ में मीमांसासम्मत 'अपूर्व' शब्द का भी प्रयोग बहुधा किया है। वात्स्यायनकृत न्यायभाष्य में भी धर्म अधर्म का आत्मा के गुणों के रूप में उल्लेख है तथा कर्मजन्य संस्कारों एवं कुछ भौतिक प्रक्रियाओं के बीच सम्बन्ध का भी संकेत मिलता है[3]।

इस आधार पर कहा जा सकता है कि पुरातन वैशेषिक परम्परा में 'अदृष्ट' का प्रयोग भौतिक क्रियाओं के अज्ञात कारणों के लिए भी हुआ है तथा जीवों के नैतिक शुभ-अशुभ के नियामक कारण के रूप में भी किन्तु प्रशस्तपाद एवं उनके परवर्ती व्याख्याकारों ने तो अदृष्ट को केवल धर्म-अधर्म के वाचक रूप में ही प्रयोग किया है।

प्रशस्तपाद ने कणादोक्त सत्रह गुणों की सूची में सात गुण जोड़े तथा उनमें धर्म-अधर्म-आत्मा के इन दोनों गुणों को प्रथम बार स्पष्टतः 'अदृष्ट' पद से व्यक्त किया[4]। यह कहना कठिन है कि अदृष्ट एवं धर्माधर्म का यह समन्वय उन्हें स्वयं अभीष्ट था अथवा उन्होंने विलुप्त वैशेषिक परम्परा से इसे ग्रहण किया। अस्तु, इसमें सन्देह नहीं

---

१. वै. सू. चन्द्रानन्दवृत्ति (५.२.२)

२. उपस्कार, पृ. ३३५-३६

३. न्या. भा. (न्या. सू. ३.२.६३, ४.१.४४)

४. चशब्द समुच्चिताश्च गुरुत्वद्रवत्वस्नेह संस्कारा दृष्टशब्दाः सप्तैवेत्येवं चतुर्विंशति-गुणाः।—प्र. पा. भा., पृ. ३

कि वे अदृष्ट को भौतिक, नैतिक एवं धार्मिक सभी कार्यों में सहकारी मानते हैं। जीवों के श्वास-प्रश्वासादि कार्यों में सहायक होने के साथ-साथ इच्छा, द्वेष आदि मानसिक क्रियाओं के प्रेरण में, इन्द्रिय प्रत्यक्ष में, स्वप्नानुभूति तथा इन सबसे बढ़कर उनके शरीर निर्धारण मे भी उनके धर्म–अधर्म या अदृष्ट का ही हाथ रहता है[1] सृष्टि–संहार-प्रक्रिया का वर्णन करते हुए प्रशस्तपाद का स्पष्ट कथन है कि संहारकाल में जीवों के शरीर इन्द्रिय तथा महाभूतों के उत्पादक सभी आत्माओं के सभी अदृष्टों की कार्योत्पादन शक्ति कुंठित हो जाती है जिससे क्रमशः कार्यद्रव्यों का परमाणु–पर्यन्त नाश हो जाता है तथा आपने में असम्बद्ध परमाणु एवं धर्म-अधर्म और संस्कार (भावना) से युक्त जीव ही रह जाते है[2]। इसी प्रकार सृष्टि के समय प्राणियों को उनके कर्मफल का भोग कराने के लिए ही ईश्वर में 'सिसृक्षा उत्पन्न' होती है तथा जीवों के अदृष्ट की कुण्ठित शक्ति फिर से कार्योत्पादन के लिए उन्मुख हो जाती है जससे परमाणुओं में क्रिया उत्पन्न होती है और महेश्वर द्वारा नियुक्त ब्रह्म प्राणियों के कर्म की परिणति समझकर उन्हें उनके कर्मों के अनुसार ज्ञान, भोग और आयु से युक्त करते हैं[3]। इस प्रकार जीवों का अदृष्ट या धर्म अधर्म ही सृष्टि का तथा विविध प्राणियों का उत्पादक हेतु हैं। थोड़े से अधर्म से युक्त प्रवृत्ति स्वरूप धर्म के द्वारा देव, तिर्यग्योनि एवं नारकीय शरीरों के सम्बन्ध से जीव को बार-बार संसाररूप बन्धन मिलता है तथा निवृत्तिजनक केवल धर्म (अधर्म से सर्वथा असम्बद्ध) की भी निवृत्ति हो जाने पर आत्मा संसार के बीज धर्म–अधर्म से भी रहित हो जाता है, अतः उसके उपभोग के पूर्व–आयतन अर्थात् वर्तमान शरीर की निवृत्ति हो जाती है एवं आगे शरीर की उत्पत्ति रूक जाती है अर्थात् मोक्ष हो जाता है[4]।

अतः यह कहा जा सकता है कि भाष्यकार प्रशस्तपाद ने 'अदृष्ट' के नैतिक पक्ष

---

१. प्र. पा. भा. एवं उसपर न्यायकन्दली, पृ. ३०८ (चौखम्बा संस्करण)

२. पृ पा. भा. एवं उस पर व्योमवती, पृ. २७७-२९९

३. प्र. पा. भा. पृ. ३२-३३

४. वही, पृ. २३४-३५

पर ही बल दिया है–इसीलिए उन्होंने कर्मफल अथवा धर्म–अधर्म के रूप में ही इसका विवेचन किया है। सूत्रकार द्वारा भौतिक कारणता के विषय में व्याख्यात अदृष्ट पर उन्होंने वैशेषिक दर्शनाभिमत 'कर्म' पदार्थ के अन्तर्गत प्रकाश डाला है। इसलिए फ्राउवा–ल्नर का कथन है कि आरम्भिक काल में वैशेषिक दर्शन शुद्ध प्रकृति–दर्शन (Philosophy of Nature) रहा होगा तथा प्राकृतिक या भौतिक घटनाओं का विश्लेषण ही उसका प्रतिपाद्य रहा होगा तथा मोक्ष अथवा संसार बन्धन से छुटकारा पाना उसका उद्देश्य नही रहा होगा[1]।

आरम्भ में अदृष्ट विश्व की कारणता के रूप में कल्पित किया गया होगा, अवान्तर काल में धार्मिक अथवा मोक्ष–शास्त्रपरक प्रवृत्तियो के विकसित होने पर उसे कर्म–सिद्धान्त के साथ जोड़ दिया गया होगा[2]। अन्य दर्शनों में 'कर्म' के रूप में वर्णित तत्त्व को यहां पदार्थ–निरूपण के विषय में धर्म-अधर्म' नामक दो गुणों के साथ समन्वित कर दिया गया होगा।

पाश्चात्य समालोचकों की उक्त मान्यताओं का विश्लेषण करने पर व्यक्त होता है कि उनके मत संगत एवं तथ्यपरक नहीं हैं। यह सत्य है कि वैशेषिक सूत्रों में अदृष्ट पद का प्रयोग अधिक व्यापक अर्थों में हुआ है, वहां भौतिक एवं नैतिक दोनों क्षेत्रों में अज्ञात कारणों को अदृष्ट कहा गया है जबकि प्रशस्तपाद ने उसको सीमित एवं व्यव–स्थित रीति से प्रयुक्त करते हुए भौतिक घटनाओं को अदृष्टजन्य कर्म कहकर व्याख्यात किया है तथा नैतिक कर्म-सिद्धांत अथवा जीवों केशुभ अशुभ कर्मफल के रूप में धर्म-अधर्म को 'अदृष्ट' कहा गया है। संभवतः इसका कारण यह रहा हो कि वे समान–तन्त्र न्यायदर्शन की पदावली से प्रभावित रहे हों जहां धर्म–अधर्म का अदृष्ट के अर्थ में ही प्रयोग हुआ है[3]। इस दृष्टि से विचार करने पर न्याय-वैशेषिक आचार्यों के

---

1. Frauwallner, Erich, Indian Philosophy, Vol. II, P. 60
2. Wilhelm Halbfass, Karma And Relirth, P-289
३. न्यायवार्त्तिक, पृ. ४४५-४६ (३.२.६६) तथा पृ. ४६०-६४ (४.१.२१)

पौर्वापर्य पर भी कुछ नये संकेत हाथ लग सकते है। अत: यह कहना कथमपि समीचीन नहीं की वैशेषिक दर्शन मे मोक्षपरक प्रवृत्ति बाद में विकसित हुई होगी, जबकि कणाद अपने द्वितीय सूत्र में ही अभ्युदय एवं निःश्रेयस का निर्देश करते है[1]।

उक्त विवेचन से वैशेषिक की यह मान्यता भी स्पष्ट एवं निश्चित हो जाती है कि कर्मफल अथवा धर्माधर्म के रूप में रहने वाला 'अदृष्ट' आत्मा का गुण है, न कि कर्म अथवा किसी अन्य जड़ वस्तु का जैसा कि मीमांसासम्मत अपूर्व को माना गया है। अत: इस दृष्टि से वैशेषिक दर्शन में माना गया अदृष्ट मीमांसकाभिमत अपूर्व से अधिक व्यापक सिद्ध होता है[2]। अदृष्ट के विषय में वैशेषिक दर्शन की यह मान्यता इसलिए और अधिक महत्त्वपूर्ण है कि यहां आत्माओं की अनेकता[3] मानी गई है, अत: इससे यह स्वत: सिद्ध तथ्य निःसृत होता है कि प्रत्येक आत्मा को अपने किये कर्म का फल भोगना है। स्वयं सूत्रकार कणाद का स्पष्ट वचन है कि एक आत्मा के गुण दूसरी आत्मा की परिस्थितियों में कारण नहीं हो सकते[4]। भाव यह है कि एक आत्मा का सत्कर्म दूसरे आत्मा की परिस्थितियों में कारण नहीं होता। जो व्यक्ति जैसा कर्म करता है, वह उसके अनुसार वैसा ही फल पाता है-यह कर्मसिद्धान्त का मूल आधार है। यदि इसमें व्यति कर्म माना जायेगा तो 'कृतहान' एवं 'अकृताभ्यागम' ये दो विसंगतियां होंगी, जो न्याय-प्रतिकूल हैं। इस कथन से वैशेषिक दर्शन की नीतिमीमांसा का मौलिक आधार भी संकेतित होता है कि समाज में प्रत्येक को अपने ही कर्मों का फल मिलेगा-यही अभ्युदय का साधन है। इसी के आधार पर मृतक व्यक्ति के लिए किए गये श्राद्धकर्म आदि को अनुचित ठहराया गया है क्योंकि जीवित व्यक्ति के द्वारा किए गए कर्म का फल मृत व्यक्ति को कैसे मिल सकता है? शङ्का-

---

१. यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।-वै. सू. १.१.२

२. झा, किशोरनाथ, अदृष्टवादः सारस्वती सुषमा, पृ. १६४ (विक्रम संवत् २०१७, खण्ड III-V)

३. व्यवस्थातो नाना।-वै. सू. ३.२.२०

४. आत्मान्तरगुणानामात्मान्तरेऽकारणत्वात्।-वै. सू. ६ २.५

रमिश्र ने भी इसको विशद करते हुए कहा है कि जीवात्माओं के अपने धर्म-अधर्म से ही उनके सुख-दुःखादि कार्य उत्पन्न होते हैं न कि व्याकरण (अन्य आत्मा के) धर्म तथा अधर्म से[1]।

इस विषय में यह अवश्य ध्यातव्य है कि 'आत्मा' को वैशेषिक दर्शन में विभु माना गया है, अतः उस आत्मा के गुण धर्म-अधर्म अथवा अदृष्ट का प्रभाव उन सभी व्यक्तियों या वस्तुओं पर पड़ सकता है जो उसके कर्मफल से सम्बद्ध हैं। जैसे गर्भस्थ शिशु के शरीर का निर्माण उसके माता पिता के अदृष्ट से प्रभावित होता है[2]। अथवा वृक्षसेचन मे किसी एक व्यक्ति द्वारा किया गया प्रयत्न उस वृक्ष के फल भोगने वाले जीव के अदृष्ट से प्रेरित होता है[3] इसीलिए कहा गया है कि जहां कार्यों के दृष्ट कारण उपलब्ध न हों, वहां अदृष्ट कारणों की कल्पना कर लेनी चाहिए[4]। अदृष्ट को स्वीकार करने का यह अर्थ कदापि नहीं कि दृष्ट कारणों की उपेक्षा करनी चाहिए[5] अतः कहना अनुचित है कि अदृष्ट को स्वीकार कर वैशेषिक दर्शन ने तात्विक चिन्तन पर प्रहार किया है[6]। अदृष्ट का अर्थ केवल यही है कि प्रत्येक कार्य किसी कारण से जन्य है और जीवों के वर्तमान सुख-दुःख उनके पूर्वकृत शुभ या अशुभ कर्मफल अथवा धर्म-अधर्म से जन्य है—अतः अदृष्ट को स्वीकार करते ही पूर्वजन्म या पुनर्जन्म की स्वीकृति भी स्वयमेव हो जाती है।

इसी से यह भी सिद्ध हो जाता है कि कर्मफल अथवा धर्म-अधर्म के रूप मे अदृष्ट नित्य है क्योंकि यह पाप एवं पुण्य के रूप में इस जीवन के आगे भी आत्मा के साथ

---

१. एवञ्च प्रत्यगात्मनिष्ठाभ्यामेव धर्माधर्माभ्यां सुखदःखे न व्याधिकरणाभ्यामन्यथा यन यागहिंसादिक न कृतं तस्य तत् फलं स्यादिति।—उपकार, पृ ३३५

२. न्या. सू. ३.२.६०-६५ एवं उन पर न्याय भाष्य

३. न्या. वा. (४.१ ४७ पर) पृ. ४८८

४. दृष्टसिद्धये ह्यदृष्ट कल्प्यते न तु दृष्टविघाताय।—न्या. मं. भाग पृ. ३९

५. नादृष्टं दृष्टघातकम्।—न्या कु. ५.४

6, RadheKrishnan Indian Philosophy, Vol. II, P-238

संस्कार रूप में रहता है और उसके पुनर्जन्म का आधार बनता है[1] । यहां यह स्पष्ट कर देना अनिवार्य है कि धर्म–अधर्म के रूप में अदृष्ट आत्मा में रहने वाला गुण हैं, किन्तु स्वयं गुण होने के कारण ज्ञान या बुद्धि से शून्य है क्योकि न्याय-वैशेषिक मतानुसार गुणों में गुण नहीं रहते[2] । इसलिए अदृष्ट सभी प्रकार के कार्यों का अज्ञात कारण जगत् मे दृश्यमान वैषम्य का हेतु तथा सृष्ट्यारम्भ में होने वाले परमाणुओं के आद्य संयोग का जनक होने पर भी अचेतन होने से किसी चेतन अधिष्ठाता की अपेक्षा रखता है[3]–जीवात्मा अल्पज्ञ होने से अदृष्ट का नियामक हो नहीं सकता, अतः अदृष्ट के अधिष्ठाता रूप में ईश्वर की सिद्धि वैशेषिक दर्शन के इतिहास एवं विकास में एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है । उदयनाचार्य ने ईश्वर–सिद्धि से पूर्व अपने विश्वप्रसिद्ध ग्रन्थ में अदृष्ट की सिद्धि इसीलिए सयुक्तिक की है[4] । ईश्वर-सिद्धि के लिए उन्होंने जो नैतिक युक्ति[5] दी है, वह अदृष्ट पर ही आधारित है । तदनुसार जब ईश्वर इस विश्व की रचना करता है, तो वह निरपेक्ष एवं स्वधीन नहीं होता अपितु जीवों के धर्माधर्म अथवा अदृष्ट के अनुसार ही उन्हें शरीर ज्ञान एवं ऐश्वर्य आदि प्रदान करता है । अन्य शब्दों मे वैशेषिक दर्शन के अनुसार बहुतत्त्ववादी परमाणुकारणरूपा सृष्टि में परमाणु समवायिकारण हैं ईश्वर निमित्तकारण है तथा अदृष्ट या जीवों के धर्माधर्म असमवायिकारण हैं[6] । परवर्ती न्याय-वैशेषिक के ग्रन्थों में जो आठ साधारण कारण माने गये हैं, उनमें भी अदृष्ट या धर्माधर्म को रखा गया है[7] ।

---

१. न्या. मं., भाग २, पृ. ४३

२. कारिकावली, कारिका १४

३. न हि किञ्चिदचेतनं स्वतन्त्रमधिष्ठायकं दृष्टम् ।–न्या. वा. पृ०. ४६४ (४.१.२१)

४. सापेक्षत्वादनादित्वाद्वैचित्र्याद्विश्ववृत्तितः ।
प्रत्यात्मनियमाद् भुक्तेरस्ति हेतुरलौकिकः ॥–न्य. कु. १.४

5. Bhattacanya, Gopikamohan, Studies In Nyaya-Vaisesika Thism,

६. व्योम पृ. २६८

7. Gcugh, A. E., The Vaiseeika Aphorisms, P. 164

इस प्रकार, उक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वैशेषिक दर्शन के अनुसार 'कर्म' एक पदार्थ है-धर्म-अधर्म ये दो जीवात्मा के गुण हैं तथा इन्हें ही 'अदृष्ट' पद से भी अभिहित किया गया है। पारम्परिक कर्म-सिद्धान्त के अर्थ में वैशेषिक दर्शनाभिमत धर्म अधर्म या 'अदृष्ट' ही वह नैतिक शक्ति है जो इस विशाल एवं विचित्र विश्व में व्यवस्था का आधार है। नैतिक दृष्टि से यही मनुष्य के विभिन्न जन्मों मे उसके भाग्य का नियंत्रक है[1]। इसे अदृष्ट कहने का अभिप्राय यही है कि यह साक्षात् रूप से देखा नहीं जा सकता-सूत्रकार कणाद ने इसके अन्तर्गत उन सभी प्राकृतिक एवं भौतिक घटनाओं को भी रखा है जिनके कारण दृष्ट नहीं हैं जबकि प्रशस्तपाद एवं उनके परवर्ती आचार्यों ने इसे सर्वथा नैतिक शक्ति के रूप में व्यवस्थित कर वैशेषिक कर्म सिद्धान्त को एक सुनिश्चित स्वरूप प्रदान किया। तदनुसार 'अदृष्ट' इस जगत् की विविध परिस्थितियों का मूल आधार है।

---

1. Shuitz, M , Hindu Fhilosophy, P. 42

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में गीता के सिद्धान्तों की उपादेयता

आचार्य श्याम

श्रीमद्‌भगवद्‌गीता विश्व का सर्वाधिक समन्वयवादिग्रन्थ है। आज हमारे सामने समन्वयवाद हमारे जीवन की सबसे बड़ी आवश्यकता के रूप मे समुपस्थित है। सम्प्रति हम इसका परित्याग करके अपने जीवन के किसी भी क्षेत्र में प्रगति नहीं कर सकते। यह वर्तमान युग में सबसे अधिक व्यावहारिक है। किसी भी व्यक्ति समाज, दल, समुदाय, संगठन तथा सम्प्रदाय को आत्यात्तिक रूप से यह दावा करने का अधिकार नही है कि जीवन का सम्पूर्ण सत्य उसी के पास है तथा शेष उनसे नितान्त रिक्त हैं। सत्य किसी की बपौती नहीं। यह कहीं पर भी हो सकता है।

निरन्तर विकसित होती चेतना के इस युग में अपने आप को किसी पर आरोपित करना सम्भव नहीं आज हम विज्ञान के युग में रह रहे हैं। यह बुद्धिवाद का युग है। आज का मानव अपने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में किसी भी बात को स्वीकार करने के लिए क्यों का उत्तर चाहता है ? वह उसे स्वीकार करने से पूर्व उसे अपने तर्क की कसौटी पर विधिवत कसकर देखता है और उस पर खरा उतरने पर ही वह उसे अपनी मान्यता प्रदान करता है। श्रद्धा का विवेक-सम्मत होना अनिवार्य है। उसका अन्धापन उचित नहीं इसका वास्तविक अर्थ भी यही है।

जब हम मानव-समाज से यह अपेक्षा करते हैं कि वह हमारे द्वारा निरूपित व्याख्यायित एवं प्रचारित सिद्धान्तों को स्वीकार करे तो वह हमसे इस उत्तर की अपेक्षा करता है कि आखिर वह उसे स्वीकार करे तो क्यों करे ? उसमें कौन सी ऐसी विशिष्टताएं, विशेषताएं अथवा गुण हैं जिससे वह उनका अनुसरण क्यों करे ? उसके लिए उसकी क्या उपयोगिता है ? वह उसके वर्तमान जीवन को कहाँ तक सन्तुष्ट करता हैं ? उसमें उसकी समसामयिक जीवन की समस्याओं का समाधान कहां तक प्राप्त होता है ? यह एक सर्वाधिक विचारणीय प्रश्न हमारे समक्ष है और सबको सन्तुष्ट करने वाला उसका उत्तर हमको ही खोजना है।

मानव-मात्र की जितनी भी समस्याएं हो सकती है अथवा वर्तमान में हमारे समक्ष

हैं अथवा जो भी प्रश्न हमारे सामने हैं उन सम्पूर्ण समस्याओं का समाधान उन समस्त प्रश्नों का उत्तर अपने उत्तमोत्तम रूप में गीता में विद्यमान है परन्तु हमको उसको स्व-विवक द्वारा समाज के समक्ष प्रस्तुत करना है। इसके लिए हमें दीर्घकालिक साधना की सर्वाधिक आवश्यकता है। इसके लिए हमें अपने जीवन को व्यावहारिक क्रियात्मक अथवा आचरणमय बनाना पर आवश्यक है। सेवा के अभाव में ज्ञान अहकार को उत्पन्न करता है जो कि व्यक्ति के पतन के हेतु है। इसके लिए हमारे लिए उसका श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन आवश्यक है।

आज हम चुटकी बजाते ही अपने वर्तमान जीवन को सन्तुष्ट नहीं कर सकते। हमें इसके लिए समय चाहिए। इसके लिए लम्बे जीवन की साधना अपेक्षित है क्योंकि हमारे वर्तमान का आधार अतीत में है। उसमे बिना प्रशिक्षण प्राप्त किए हम वर्तमान जीवन की विभीषिकाओं अथवा असंगतियों से संघर्ष नहीं कर सकते। आधुनिक जीवन की चुनौतियों को स्वीकार करने के लिए हमें अपनी अन्तर्निहित शक्तियों को पहचानना परम आवश्यक है। इसके लिए आध्यात्मिक साधना करना सर्वोपरि है। गीता हम अपनी इसी आत्म-शक्ति का बोध कराती हैं। यह हमें आत्म-जागरण का अनुपम सन्देश प्रदान करती है। यह हमें समस्त प्रकार के दुराग्रहों से मुक्त करती है। यह हमें उसकी सम्पूर्ण संकीर्णताओं से ऊपर उठाकर उसके विराट स्वरूप में प्रतिष्ठित करती है। यह हमें हमारे यथार्थ जीवन से साक्षात्कार कराती है। यह हमारे अन्त-चक्षुओं को खोल देती है।

यह हमें हमारे समाज में व्याप्त जातिवाद, वर्गवाद, भाषावाद, प्रान्तवाद, क्षेत्रवाद तथा सम्प्रदायवाद की संकीर्ण परीधि से ऊपर उठारक विराट विश्व के धरातल पर प्रतिष्ठित करती है। यह हमें अपने में उपस्थित ईश्वर के विराट चैतन्य स्वरूप तत्व का सम्यक बोध कराती है। यह हमारी मानवीय दुर्बलताओं (ह्यूमन वीक नेसंस) पर विजय प्राप्त करने का अमोघ-अस्त्र है यह मानव की आत्यान्तिक मुक्ति का महामंत्र है.......... यह मानव-कल्याण की गायत्री है। इसके माध्यम से श्री कृष्ण जी ने सम्पूर्ण मानव-जाति को यह सन्देश दिया है कि अधर्म, असत्य, अन्याय, अत्याचार

दमन, शोषण, उत्पीडन तथा अनीति अपने आप में चाहें कितने ही अधिक शक्ति शाली क्यों न हों परन्तु अन्ततोगत्वा धर्म, सत्य, न्याय, नीति, सहिष्णुता, सेवा तथा परोपकार की ही विजय होती है। ईश्वर सदैव सत्य का साथ देता है। भगवान कृष्ण ने इसको अपना व्यावहारिक अथवा क्रियात्मक स्वरूप प्रदान किया। आसुरी शक्ति अपने आप में चाहे कितनी ही प्रचण्ड क्यों न हो वह अन्त में दैवी शक्ति के द्वारा पराभव को प्राप्त होती हैं। व्यावहारिक दृष्टि से इन दोनों का संघर्ष समाप्त नहीं होता। इसी के साथ-साथ यह भी सत्य है कि इन दोनों का पारस्परिक संघर्ष अतीत काल से चला आ रहा है, आज भी चल रहा है। और यह आगे भी चलता रहेगा। यह स्वाभाविक है तथा ईश्वरीय विधान के अन्तर्गत है इसलिए हम इसको आत्यान्तिक रूप से समाप्त नहीं कर सकते।

गीता हमे जीवन में चतुर्दिक व्याप्त परिस्थितियों से निरन्तर संघर्ष करने का आह्वान करती है। क्योंकि उनसे पलायन करना उनका समाधान नहीं। हमें उसकी चुनौतियों को स्वीकार करना है। उनके समाधान के लिए हमको तो आगे आना ही है। हम जीवन की किसी परिस्थितियों में निष्क्रिय नहीं बैठ सकते। हमारे जीवन का प्रत्येक क्षण कर्ममय है। इसका हमारे पास कोई भी बचाव नहीं है। गीता में कृष्ण जी ने कहा है कि...............

["नहिंकीत्क्षणमपि नातु तिषुत्यत्र मंकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजंगुणैः ॥"]

गीता, तीसरा अध्याय पांचवां श्लोक

गीता कर्म की अनिवार्यता से सतत् आवद्ध है। इसी के साथ-साथ हमें यह जानना भी आवश्यक है कि जब हमें कर्म करना ही है तो हम क्यों न उचित दिशा मे कर्म करें ? जीवन के जिस सन्दर्भ में हमें जो भी दायित्व मिला है, हम उसका पूर्ण-रूपेन सम्यक अनुपालन करें क्योंकि यही न्यायोचित है। यही हमारी नियति है। हमारे जीवन की सार्थकता इसी में अन्निहित हैं। इसका विधिवत् अनुपालन करके ही हमें

इससे मुक्ति मिल सकती है। कर्म ही कर्म बन्धन से छूटने का उपाय है।

वास्तव में गीता हमारे वर्तमान जीवन में अपने व्यावहारिक रूप में, प्रतिक्षण घटित हो रही है। इसके माध्यम से श्री कृष्ण जी ने न मात्र अर्जुन की ही मोह–निद्रा को भंग किया है अपितु उसको प्रतीक बनाकर विश्व के समस्त जन–समुदाय को मोह से दूर हटाकर उनके अपने कर्त्तव्य पालन का शाश्वत-सन्देश प्रदान किया है। यदि हम गीता में प्रतिपादित सिद्धान्तों पर गहन चिंतन करें तो उनका रहस्य हमारी समझ में आ सकता है।

वस्तुतः कौरव तथा पाण्डव हमारे जीवन की विभिन्न वृत्तियों के प्रतीक है। वे क्रमशः असुरी तथा देवी वृत्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। ये उसके भिन्न भिन्न स्वभावों के नाम हैं। मानव का स्वभाव अपरिर्तनीय है। उसमें बदलाव नहीं आता इसको गीता में, श्री कृष्ण जी ने निम्न श्लोक के द्वारा अनुमोदित किया है :—

["सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि। प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥"]

गीता, अध्याय तीसरा, ३३ वां श्लोक

ज्ञानवान व्यक्ति भी अपनी प्रकृति के अनुसार चेष्टा करता हैं। सभी प्राणी अपनी प्रकृति के अनुसार चेष्टा करते हैं ....वे उसी के अनुसार अपने-अपने कर्म मे प्रवृत्त होते हैं। इसमें किसी का हठ क्या करेगा ?...........अर्थात् इसमें किसी का हठ कुछ भी नहीं कर सकता।

हमारा हृदय अथवा अन्तःकरण ही कुरुक्षेत्र है। इसकी सद्‌वृत्तियां पाण्डवों की तथा दुष्प्रवृत्तियां कौरवों की प्रतीक है। इनमे सृष्टि के आदिकाल से सतत् संघर्ष होता चला आ रहा है आज भी हो रहा है और यह आगे भी चलता रहेगा। इसमें जो साधक भगवद आश्रित होकर अपने कर्तव्य का पालन करते हैं वे ही अपने जीवन में विजय श्री प्राप्त करते हैं। ईश्वर सदैव सत्य, धर्म तथा न्याय का साथ देता है। सत्य की परीक्षा तो अग्नि-परीक्षा है। इसको उत्तीर्ण करना लोहे के चने चबाने के समान है।

गीता के दो सूत्र, ["सर्वभूत हितेरता:"] तथा ['मामनुस्मर युद्ध च"] हमारे आधुनिक जीवन के लिए राम-बाण के समान है। प्रथम में मानव-कल्याण की भावना को सर्वोपरि महत्त्व दिया गया है। सम्पूर्ण जगत् ईश्वर का स्वरूप है। वह सर्वत्र समान रूप से विद्यमान है। सर्व-हित की भावना रखना प्रभु की सर्वोत्तम उपासना है। द्वितीय सूत्र में जीवन की साधना के रहस्य को खोल दिया गया है। यह साधना का शब्द कोष है। इसका प्रत्येक शब्द साधना के लिए है। इसमें यह बताया गया है कि हम जीवन मे साधना कैसे करें...... उसका ढंग क्या हो ? इसके लिए कृष्ण जी ने अर्जुन को प्रतीक बनाकर उसके माध्यम से समस्त मानव-समाज का मार्ग दर्शन किया है अर्थात् उन्होने बताया है कि मनुष्य को प्रभु का भजन भी करना है। उनका स्मरण करना है तथा संसार की असंगतियो विसंगतियों अथवा विषमताओं से युद्ध भी करना है। यह संसार एक विशालतम समरांगुण है। इसमें देवसुर संग्राम चल रहा है। इसमें सत्य की विजय होनी है तथा असत्य को पराजित होना है। संसार मे सत् वस्तु का भी अभाव नहीं तथा असत् वस्तु का कोई अस्तित्व नहीं। इसका गीता के निम्न श्लोक में कृष्ण जी ने बड़े सुन्दर ढंग से प्रतिपादित किया है:—

["नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। उभयोरपि दृष्टोऽन्त स्त्वनयो-स्तत्त्व दर्शिभिः ॥"]

गीता, दूसरा अध्याय, १६ वां श्लोक

असत्य पर विजय प्राप्त करने के लिए मनुष्य का ईश्वर से सतत् तादत्म्य अव-श्यक है। भगवत्कृपा के बिना किसी भी स्थिति में उस पर विजय प्राप्त पाना सम्भव नहीं है। इसके लिए उसका उस अनन्त शक्तिमान परमात्मा से निरन्तर सम्बन्ध रहना आवश्यक है। भगवत् विस्मरण होने पर मनुष्य अपने जीवन में चारों ओर संकटों तथा विपत्तियों से घिर जाता है। वह हतप्रभ हो जाता है...... वह किंकर्तव्य विमूढ़ हो जाता है...... उसकी समझ में यह नहीं आता कि वह क्या करे ?

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में हमारी समस्त प्रकार की विषम से विषम समस्याओं का उत्तमोत्तम समाधान गीता में निहित है। यह हमें जातिवाद, वर्गवाद, भाषावाद, प्रान्त-

बाद क्षेत्रवाद, सम्प्रदायबाद तथा राष्ट्रवाद से ऊपर उठाकर मानववाद में पूर्ण प्रतिष्ठित होने का सन्देश देती है। यह हमें सब प्रकार के पूर्वाग्रहों तथा राग्रहों से मुक्त करती है।

आधुनिक सन्दर्भ में हमारे लिए आचरण अपेक्षित है। गीता आचरण प्रधान ग्रन्थ है। जीवन के दिव्य गुणों के आचरण का नाम ही गीता है। इसके मर्म को आचरण के द्वारा ही समझा जा सकता है। यह इसके सिद्धान्तों की अनुपम व्याख्या है। आज विश्व को समन्वयवाद की सर्वाधिक आवश्यकता है। और गीता संसार का सर्वाधिक समन्वयवादी ग्रन्थ है। यह विश्व की शीर्षस्थ पुस्तक है। यह सभी के लिए समान रूप से उपयोगी है। गीता के आदर्शों का विधिवत् अनुकरण करके विश्व को तृतीय विश्व-युद्ध की त्रासदी से बचाया जा सकता है।

कर्मवाद एवं भारतीय जीवन दर्शन

डा० कृष्ण अवतार अग्रवाल
अंग्रेजी विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार

मनुष्य के जीवन में कर्म इतना स्वभाविक है कि वह वास्तव में जीवन का पर्याय ही बन गया है। एक अच्छे जीवन की सुदृढ़ बुनियाद के लिए मन और शरीर की क्रियाओं में सामंजस्य नितांत आवश्यक है। आत्माभिव्यक्ति जीवन की शर्त है हमारे अस्तित्व का प्राणस्पंदन है। हम अपने आस-पास की अनेक प्रतिक्रियाये देखते हैं। ये क्रियाये अहंकार के साथ-साथ व्यक्ति के अन्य तकाजों के साथ समाविष्ट होती है। जब हम जीवन की गहराई को समझने का प्रयास करते है तो हम अनुभव करते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति का जीवन एक निजी जीवन है जो जीवन के अनेक कर्मों के ताने-वाने से बनाई हुई एक चादर है। कर्म के बिना जीवन का अस्तित्व नहीं है। अतः कर्म ही जीवन है और यदि इससे कोई इन्कार करता है तो इसका अर्थ है कि वह अपने अस्तित्व से इन्कार कर रहा। इसीलिए गीता में भगवान श्री कृष्ण ने कर्म को ही जीवन का सच्चा धर्म बताया है। कर्म के अभाव में देह का रहना असम्भव है। परंतु ज्ञान मार्गी एवं कर्म सन्यास को महत्व देने वाले विद्वान एवं दार्शनिक कर्म को बन्धन स्वरूप मानते हैं। इसीलिए इन दार्शनिकों के अनुसार कर्म सन्यास ही परमानन्द की प्राप्ति का साधन है। परन्तु सामान्य मानव समाज इस विचार से भ्रमित हो जाता है। यहां तक कि अर्जुन जैसा भक्त एवं जिज्ञासु भी इस ज्ञान मार्ग से भ्रमित हुए बिना नहीं रह सका।

भगवान श्री कृष्ण ने इसीलिए अर्जुन को कर्म की महत्ता की शिक्षा गीता में दी है। वास्तव में गीता कर्म दर्शन तथा तत्वदर्शन का एक अमूल्य ग्रन्थ है। कर्म के विभिन्न अंगों की सूक्ष्म व्याख्या मनोवैज्ञानिक ढ़ंग से की गई है। कर्म जीवन की मूल इकाई है। कर्म की उपेक्षा करना अथवा उससे पलायन करना जीवन से अपने को दूर करने के समान हैं, जो मनुष्य के लिए असम्भव है। इस प्रकार का कार्य प्रकृति के विरुद्ध आचरण करना है, जो किन्ही भी परिस्थिति में श्रेयस्कर नहीं है और उसकी प्रति क्रिया शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थय के लिए कभी भी स्वस्थ नहीं हो सकती। शारीरिक एवं मानसिक

रोगों की मनोवैज्ञानिक खोज ने भी यही सत्य प्रतिपादित किया है कि प्रकृति के विरुद्ध आचरण करने से व्यक्ति की मति-गति ही कुंठित नहीं हो जाती है, उसकी स्थूल प्रवृत्तियां भी लक्ष्य भूल बैठती है। वास्तव में स्वस्थ शरीर एवं मन की क्रियाओं का मधुर समन्वय ही सफल जीवन का सूत्र है। गांधी-कर्म दर्शन भी इसी मूल सूत्र पर आधारित हैं। गीताकार ने स्वस्थ कर्म-दर्शन को बहुत ही सरल भाषा में समझाया है। गीता के अनुसार कर्म दोषमय है ज्ञान संचालित कर्म बन्धन से मुक्त करता है और अज्ञान प्रेरित कर्म बन्धन में बांधता है। अज्ञान प्रेरित कर्म इसीलिए बांधता है कि वह आचरण के नतीजों को भली भांति तौल नहीं पाता है। इसमें आवश्यक प्रयत्न खर्च होता है और परिणाम में निराशा के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिलता। बुद्धि का कर्म में विशेष महत्व है क्योंकि कर्म के साथ ज्ञान और अज्ञान का संयोग बुद्धि के निमित्त से हैं। बुद्धि एक ऐसा यंत्र है जो जीवन की सच्ची अभिव्यक्ति करता है। बुद्धि के माध्यम से ही मानव आत्मसाक्षात्कार करता है तथा उन्नति के पथ पर आगे बढ़ने के लिए प्रेरण प्राप्त करता है। जो बुद्धि की कसौटी पर अपने जीवन का मूल्यांकन नहीं करते, वे अज्ञानी और मूर्ख कहलाते हैं और अंत में दुःख उठाते हैं। कर्म आत्मशुद्धि का सर्वश्रेष्ठ मार्ग है तथा कर्म ही स्वधर्म हैं। इसीलिए जब स्वधर्मकी तुला के पलड़ों में वैषम्य पैदा हो जाता है, तभी वैयक्तिक जीवन के साथ-२ सामाजिक जीवन में भी विकार फैलने लगता है। कर्म के साथ-२ आस्था और विश्वास भी आवश्यक है। दार्शनिको ने इन्हें मनुष्य का हृदय पक्ष और बुद्धि को उसकी चेतना तथा तर्क पक्ष माना है। तर्क के कंगूरे को मनुष्य अपने ज्ञान की नींव पर खड़ा करने में सक्षम होता है। जबकि आस्था इससे नितांत भिन्न प्रतति का विषय है। आस्था स्वतः उत्पन्न होती है। यह दबाव द्वारा उत्पन्न नहीं की जा सकती। जब तक मनुष्य के अन्दर भाव जगत् रहेगा, आस्था किसी न किसी रूप में देखने को मिलेगी। इसी प्रकार जब तक मनुष्य के मस्तिष्क में ज्ञान का संचार होता रहेगा, तर्क का अस्तित्व नष्ट नहीं होगा। जिस व्यक्ति के भाव जगत् और चेतना जगत् में समान रूप से सक्रियता पाई जाती है, वह अत्यधिक विकासशील होता है।

उद्धव को गोपियों ने 'कूपहि में यहां भंग परी है' कहकर अपने पास से जाने के लिए कहा क्योंकि वे केवल तर्क के आधार पर गोपिकाओं को समझाना चाहते थे। वे

भूल गये कि कोरा तर्क अर्थहीन है। वास्तव में विश्वास और बुद्धि के बीच एक सम्यक् सामंजस्य और संतुलन होना चाहिए। ठीक इसी प्रकार जब अर्जुन कुरुक्षेत्र के मैदान में युद्ध करने जाते है और यही भ्रम उन्हें स्वपजनो का संहार करने से रोकता है। परन्तु जब श्री कृष्ण ने ब्रह्म के ज्ञानातीत रूप का प्रत्यक्षीकरण कराया तो अर्जुन को युद्ध करना पड़ा। कामायनी में 'श्रद्धा और इड़ा का जो संघर्ष महाकवि जय शंकर प्रसाद जी ने दिखाया है, वह वास्तव मे आस्था और तर्क का संघर्ष हैं। वास्तव में हमारी आंखों के सामने जो वाह्य जगत है वही मनुष्य के अन्तर्जगत् को अभिव्यक्त करता है। आस्था और तर्क का चक्र ही भारतीय जीवन का दर्शन है तथा यहां की संस्कृति हमारा जीवन प्राण है। सभ्यता में आस्था ओर तर्क दोनो का सुन्दर सामंजस्य होता है और श्रेष्ठ सभ्यता युग बोध से प्रभावित होती है, परन्तु यह भारत का दुर्भाग्य हैं कि आठवी सदी के बाद भारत पर एक-एक करके लगातार विदेशी आक्रमण होते रहे। चंगेज, तैमूर, नादिरशाह मुगलशासक डच, फ्रांसिसी और अंग्रेजों के अधीन भारत वर्ष की पुरानी सस्कृति किसी न किसी तरह फूलती फलती रही। हालांकि भारतीय संस्कृति को नष्ट करने के लिए विदेशी आक्रमण कारियो ने कौन-२ से यत्न नहीं किए। लेकिन इसके बावजूद हम अपनी संस्कृति की हिफाजत करने मे सक्षम रहे। संस्कृति सामाजिक, आर्थिक और तकनीकी विकास की सदैव सहगामी रही है। भारतीय संस्कृति ही हमारा सच्चा कर्मवाद और जीवन दर्शन है। यह मुख्य धारा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में अंतर्निहित है जो सारे भूमण्डल को अपनी परिधि में समेटे हुए है। इन चतुर्वर्ग को प्राप्त करना ही सफल जीवन की पहचान है। हमारे देश में प्रत्येक व्यक्ति को अपने-२ धर्मों, आस्थाओं एवं मान्यताओं को अपनाने का पूर्ण अधिकार है। धन संचय एवं उसके द्वारा जीवन को सुखमय बनाना हमारा मानव अधिकार है। परन्तु अधर्म-धनार्जन वर्जित है। काम चतुर्वर्ग मे सबसे शक्तिशाली और आकर्षक बिन्दु हैं। इसके अन्तर्गत सौंदर्य, जवानी, लालित्य प्रेम आदि गुण आते हैं जिनके सम्पर्क में मानव को रहना सर्वप्रिय है। परन्तु हमारे शास्त्र इसे केवल सन्तान उत्पत्ति एवं क्षणिक आनन्द के लिए ही आज्ञा प्रदान करते हैं। काम में अधिक तल्लीन होंना वर्जित है। इन तीनों का सुख भोगने के पश्चात् मोक्ष प्राप्त होता है। इसे अनेक पर्यायवाची शब्द जैसे

मुक्ति, छुटकारा, निजात, साल्वेशन से भी सम्बोधित किया जाता है। मोक्ष की अंतिम अवस्था में मनुष्य सभी सांसारिक झंझटों, उलझनों और क्रियाकलापों से सर्वथा छुटकारा पा लेता है, किन्तु उपरोक्त प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय अवस्थाओं में कर्म से मुख मोड़ना भारतीयता एवं मानवता के लिए घातक है। अतः इन चारों कर्म अवस्थाओं का सतुलन नितान्त आवश्यक है। हमारे धर्म ग्रन्थों और यहां तक कि मुसलमानों के पवित्र ग्रथ कुरान में भी यह ईश्वरीय आदेश है कि संसार में रहकर कर्म करो परन्तु साथ ही साथ अपने इष्ट प्रभु का चिन्तन भी करो। इन्ही कर्म और अवस्थाओं के मिलन से हम स्वर्ग (जन्नत) प्राप्त कर सकते है। कुरान में ('व ल—अरद वदअहा लिल्-अनाम कुरान: रहमान १०') में भी इंसान को जमीन पर अमन करके दुनिया में इज्जतो-आराम की जिन्दगी बसर करने की ताकीद है।

अतः भारतीयता का सार्वभौम सन्देश मानव को धर्म और अर्थ को माध्यम बनाते हुए अपने कर्म द्वारा पृथ्वी पर सम्पूर्ण उन्नति करने का मार्ग प्रशस्त करता है। यही भारतीय जीवन दर्शन है। इसी को अपनाकर मानव स्वर्गारोहण का मार्ग प्रशस्त कर सकता है।

समालोचना : स्वरूप एवं प्रवृत्तियां

डा० विजय कुमार वेदालंकार
प्रवक्ता, स्नातकोत्तर हिन्दी-विभाग, हिन्दू कालेज,
सोनीपत (हरियाणा)

समीक्षा, समालोचना, आलोचना आदि शब्दों में तात्पर्यान्तर होते हुए भी इनका मूलरूप यथार्थतया एक है। वैसे तो इनका लक्ष्य किसी काव्य या साहित्यिक रचना पर सम्यक् रूप से विधिपूर्वक विचार करना है, किन्तु मूलतः इनका उद्देश्य एक ही, है—प्रत्येक दृष्टि से कवि-कर्म का मूल्यांकन और उसे पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करना तथा उनकी रूचि को परिष्कृत करके साहित्य की गतिविधि का निर्धारण करना।

समालोचना अथवा इसके पर्यायवाची शब्दों में व्यापक अर्थ सन्निहित है। इसका क्षेत्र अनन्त और अपार है। इसकी परिधि में जीवन और जगत् के समस्त विषयों और वस्तुओं का समावेश हो जाता है, जो अपनी ही निजी और सर्वोपरि सत्ता व शक्ति से प्रेरित अथवा नियंत्रित हो रही है[1]। इसी से समालोचना को किसी सीमा विशेष में आवद्ध करना असम्भव-सा प्रतीत होता है। फिर भी, अनेक विद्वानों और विचारकों ने समालोचना को परिभाषित करते हुए उसके स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

डा० भगवत् स्वरूप मिश्र के अनुसार 'वस्तु के यथार्थ रूप की जिज्ञासा और उसे जानने का प्रयत्न मानव का स्वभाव है। वह ज्ञान पूर्वक जीता है। जगत् के प्रति बौद्धिक और रागात्मक प्रतिक्रियाएं ही उसका जीवन है। यही जगत् को समझना है और यही समीक्षा है[2]।" अतः समीक्षा मानव की स्वभाविक एवं मूलभूत प्रवृत्ति है। व्यापक अर्थ मे, व्यक्ति के प्रत्येक कार्य के अन्तस्तल में प्रवाहित होने वाली बुद्धि-वृत्ति को समीक्षा कहा जा सकता है। इस बुद्धि-वृत्ति या मूल-भूत प्रवृत्ति में संकल्प विकल्पात्मक एवं व्यवसायात्मक—ये दोनों प्रकार समाविष्ट हैं, जो मानव को किसी वस्तु या विषय के प्रति विशेष विश्लेषण एवं निर्णय लेने की ओर प्रेरित करते हैं।

---

१. सं० डा० रामेश्वरलाल खण्डेलवाल-"हिन्दी आलोचना के आधार स्तम्भ" पृ० ३४

२. डा० भगवत स्वरूप मिश्र—"हिन्दी आलोचना: उद्भव और विकास, पृ० १७

कुछ समीक्षकों ने समालोचना में व्याख्या-विश्लेषण, निर्णय और मूल्यांकन को महत्व दिया है और उसमें वैज्ञानिक शैली को अनिवार्य माना है[1] । आचार्य सीताराम चतुर्वेदी ने समालोचना को दर्शनीय-वस्तु, व्यक्ति या विषय को देखकर उसमें निहित द्रष्टव्य तत्वों को अन्यों के लिए सुलभ करने की प्रक्रिया कहा है[2] । आचार्य रघुनाथ प्रसाद 'साधक' ने समीक्षा को वस्तु, पदार्थ या रचना-मात्र के कला-कौशल, गुण-दोष तथा अन्तर एवं बहिरंग विशेषताओं के निर्णय द्वारा मानव-समाज के उपयोगार्थ कला की सार्थकता सिद्ध करने की विधि कहा है[3] । आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी रचनात्मक साहित्य को महत्त्व देते हैं और समीक्षा-सिद्धान्तों की सृष्टि का उपादान रचनात्मक साहित्य को ही मानते हैं । किन्तु वह रचनात्मक साहित्य (कलाकृति) किसी सिद्धान्त विशेष से अनुशासित नहीं होता है[4] ।

भारतीय साहित्य की भांति पाश्चात्य साहित्य में भी वहाँ के विचारकों ने समालोचना के स्वरूप, क्षेत्र, प्रयोग तथा मूल्यांकन आदि पर विशद विवेचन किया है । हर्बर्ट रीड़ ने माना है कि समालोचना का केवल कला-कृति से ही सापेक्ष सम्बन्ध नही है अपितु, वह निरपेक्ष रूप से रचनाकार की प्रेरकशक्तियों और उसकी रचना प्रक्रियाओं के विविध अंगों का विश्लेषण भी प्रस्तुत करती है[5] । ए० सी० बार्ड की दृष्टि में उस साहित्यिक समालोचना का कोई मूल्य नही, जो जीवन-परिवेश से अलग रहकर चले । क्योंकि उसका वास्तविक कार्य लेख की रचना में अभिव्यक्त जीवन-सत्य

---

१. (क) डा० सुरेशचन्द गुप्ता–'हिन्दी आलोचना के आधार स्तरम्भ, पृ० १३
   (ख) डा० गोविन्दा त्रिगुणायत-'शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त, पृ० ३४५
२. आचार्य सीताराम चतुर्वेदी-समीक्षा शास्त्र, पृ० ६
३. रघुनाथ प्रसाद 'साधक'-समालोचना शास्त्र, पृ० १८
४. आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी–नयासाहित्य: नये प्रश्न, पृ० १३८
५ Herbert Read–Collected Zssays in Literary Criticism second End. 1950 P. 17

के स्तर तथा गुण का परीक्षण करना है[1] । मैथ्यू अर्नल्ड के अनुसार समालोचना का उत्कृष्ट स्वरूप……विश्व के सर्व श्रेष्ठ ज्ञान और चिन्तन को हृदयंगम और प्रसारित करने का निस्संग प्रयत्न करना तथा सद्यः एवं सत्य विचारों को अविरल रूप से प्रवाहित करना है[2] ।

इस प्रकार भारतीय एवं पाश्चात्य आचार्यों एवं चिन्तकों द्वारा प्रस्तुत समालोचना की परिभाषा और स्वरूप पर दृष्टिपात करने से यह तथ्य सामने आता है कि उन्होंने आलोचना के बाह्य और परम्परित रूप को ही अपने दृष्टिकोण से यत्किंचित् रूप में प्रस्तुत किया है । परन्तु उसके अन्तः स्वरूप को स्पष्ट करने का कष्ट नहीं उठाया है । फिर भी, इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि वे सभी विचारक समीक्षा या समालोचना में व्याख्या, विश्लेषण, निर्णय और गुण दोष विवेचन के साथ वैज्ञानिकता के तत्त्व अनिवार्य रूप से स्वीकार करते हैं ।

आधुनिक युग में समन्वयात्मक दृष्टि से समालोचना करने वाले आचार्यों में डा० नरेन्द्र ने कुछ नवीनता के साथ समालोचना के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया है । डा० नरेन्द्र ने समालोचना को मूलतः आत्माभिव्यक्ति माना है क्योंकि समीक्षा की आत्मा कलामय है और शरीर रचना वैज्ञानिक[3] ।

वस्तुतः समालोचक कलाकृति के विवेचन- विश्लेषण के माध्यम से आत्म लाभ करता है । समालोचना का विषय रचनात्मक होता है । और उसकी परिणति आत्म सिद्धि मे होती है । अतः रस का अभिषेक समालोचना में भी रहता है । समालोचना

---

१. A. C. ward, "Twentieth centuary Literature, Third Edn. 1956, P. 212

२. Methew Arnold, 'Esseys in criticism' New Edn. 1964, P. 32

३. डा० नगेन्द्र, "आलोचक की आस्था", पृ० २०

की पद्धति में विज्ञान के रीति-नियमों का पालन करना आवश्यक और उपादेय होता है। इस प्रकार समालोचना सर्जनात्मक संदर्शन से परिव्याप्त एवं अनुविद्ध रहती है। अतः कवि यदि रमणीय अनुभूतियों के माध्यम से आत्माभिव्यक्ति करता है तो समालोचक कवि की आत्माभिव्यक्ति के या स्थान के माध्यम से। इसी से समालोचना भी ललित साहित्य की कोटि मे आ जाती है। जब भी रचनात्मक साहित्य किन्हीं सिद्धान्तों से अनुशासित होता है तभी वह कुंठित और रीति-बद्ध हो जाता है। इसमे उस साहित्य की समीक्षा भी यन्त्रगतिक अथवा अवरूद्ध हो जाती है। जबकि साहित्य की भांति समीक्षा भी स्वत. स्फूर्त और अभिव्यक्ति रूप होती है।

प्रक्रिया-पद्धति के अनुसार समालोचना को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है... सैद्धान्तिक और व्यावहारिक।[1]

सैद्धान्तिक समालोचना के अन्तर्गत प्रामाणिक रूप से स्वीकार किए जाने वाले प्रौढ़—जीवन-दर्शन को मानदण्ड के रूप मे अपनाया जाता है। यही रूढ़िग्रस्त शास्त्रीय पद्धति का रूप ग्रहण कर लेता है। आधुनिक युग में, हिन्दी में, सैद्धान्तिक समालोचना के नाम से अभिहित ज्ञान का क्षेत्र, अपने मूल रूप में संस्कृत परम्परा से प्राप्त काव्य-शास्त्र है। समस्त साहित्य जगत् में समालोचना-पद्धतियो के अनुरूप लागू होने वाला शास्त्र ही काव्य शास्त्र है जिसे आजकल सैद्धान्तिक समीक्षा का नाम दे दिया है। संस्कृत साहित्य में जिन्हें लक्षण-ग्रन्थ अथवा रीति शास्त्र का नाम दिया जाता है वे सब सैद्धान्तिक समीक्षा के ही रूप हैं।

व्यावहारिक समालोचना के अन्तर्गत वैज्ञानिक विधि द्वारा साहित्य सिद्धान्तों का निरूपण और आलोच्य-कृतियों में उनका प्रयोग किया जाता है। यह एक प्रतिक्रियात्मक पद्धति है जिसमें रचनात्मक कृतियों का विश्लेषण और मूल्यांकन किया जाता है। इस प्रक्रिया के अन्तर्गत समालोचक, आगमन और निगमन ·· दोनों प्रकार की पद्धतियो का उपयोग करता हुआ अपनी अनुभूति, भावधारा निरीक्षण शक्ति तथा

१. डा० वेंकट शर्मा, आधुनिक हिन्दी साहित्य म समालोचना का विकास, पृ० १७

तुलना तथा मूल्यांकन के आधार पर अपने निष्कर्ष प्रस्तुत करता है। इसमें रचना अथवा कृति के अन्त: पक्ष का उद्‌घाटन होने से इसका महत्त्व सैद्धान्तिक समालोचना से अधिक है।

समालोचक के 'दृष्टिकोण' के आधार पर समालोचना के विभिन्न प्रकार माने गये है। ये समीक्षा के प्रकार साहित्यिक या कलात्मक कृति द्वारा व्यक्ति के हृदय में उद्‌भूत प्रभाव पर आधारित होते हैं[1]। चूंकि दृष्टि कोण का आधार मनोवैज्ञानिक दार्शनिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, वैयक्तिक, काल्पनिक, वैज्ञानिक और निर्णयात्मक आदि कई प्रकार का हो सकता है, अत: समालोचना के भी मनोवैज्ञानिक, ऐतिहासिक, समाजशास्त्रीय, प्रभावात्मक, निर्णयात्मक, व्याख्यात्मक और शास्त्रीय आदि अनेक प्रकार माने जाते हैं। ये भी प्रकार निरपेक्ष रूप से व्यक्ति की मनोवृत्तियों से परि-चालित होते है।

समालोचना-पद्धति का रूप युगानुकूल ही रहता है। इसलिए देश और समाज की परिवर्तनशील प्रवृत्तियां एक ओर साहित्य-निर्माण की दिशा निश्चित करती हैं तो दूसरी ओर समालोचना का स्वरूप भी निर्धारित करती हैं[2]। इसी से आधुनिक युग में समालोचना की विभिन्न प्रवृत्तियां दृष्टिगोचर होती है अत: विस्तार का अतिक्रमण करते हुए प्रमुख समीक्षा-प्रवृत्तियों को ही विवेचन का विषय बनाया गया है —

१. शास्त्रीय समीक्षा—

समीक्षा की इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत शास्त्रीय नियमों के आधार पर काव्य के गुण दोषों की छान बीन की जाती है। साथ ही काव्य के विविध उपकरणों ···· अलकार रीति, गुण, वृत्ति और रस आदि का विवेचन किया जाता है। इस प्रवृत्ति मे मूलत: शास्त्रानुमोदित नियमों का ही पालन किया जाता है। भारतीय साहित्य मे समालोचना की शास्त्रीय प्रणाली अधिक प्रयोग में आती रही है। इस प्रवृत्ति को अपनाने वाले आलोचकों में पं० कृष्ण बिहारी मिश्र, रामशंकर शुक्ल रसाल, श्याम सुन्दर दास,

---

१. सां धीरेन्द्र वर्मा '—हिन्दी साहित्य कोश', भाग-१, पृ० १२३
२. डा० जयकिशन प्रसाद खण्डेलवाल, हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियां, पृ० ६५६

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, बाबू गुलाबराय, लक्ष्मी नारायण सुधांशु विश्वनाथ प्रसाद मिश्र आदि प्रमुख है। वर्तमानकाल में भारतीय और पाश्चात्य शास्त्रीय प्रवृत्तियों के इतिहासों का विविध रूपों में संयोजन इस प्रवृत्ति की व्यापकता और प्रसार को सूचित करता है :-

२ तुलनात्मक समीक्षा—

इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत दो या दो से अधिक रचनाकारों की तुलना के द्वारा उनके काव्यगत गुणों और दोषों का विवेचन किया जाता है और आलोच्य विषय में निहित तत्वों की तुलना उन्हीं के समान अन्य विषयों में निहित तत्वों से करते हुए उनके आधार पर कोई निष्कर्ष प्रस्तुत किया जाता है। प्राचीन न होते हुए भी इस प्रवृत्ति का क्षेत्र आधुनिक युग में काफी प्रशस्त है।

समालोचना की इस प्रवृत्ति के मूल में यह तथ्य कार्य करता है कि किसी वस्तु के वास्तविक महत्त्व का बोध तब होता है जब उसी के समान दूसरी वस्तु की तुलना करते हुए उसका आपेक्षिक महत्त्व निर्धारित किया जाता है। इस समालोचना की प्रवृत्ति का पूर्वरूप द्विवेदी जी की समालोचना में मिलता है। उन्होंने 'आलोचना जाति' नामक रचना में अश्वघोष कृत 'सौंदरानन्द' काव्य के संदर्भ में अश्वघोष की तुलना कालिदास से की हैं। इसके अतिरिक्त छन्नूमल द्विवेदी द्वारा लिखित कालिदास और शेक्सपीयर भी इसका उत्कृष्ट उदाहरण है। शुक्ल जी ने भी सूक्ष्म दृष्टि से अनेक कवियों का तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया है। अंग्रेजी साहित्य में तुलनात्मक समालोचना के अनुमोदक प्रो० सेण्ट्सबरी का मत उचित प्रतीत होता है कि कवियों का तुलनात्मक अध्ययन ही उनकी सर्वोच्च आलोचना है[1]।

३. ऐतिहासिक समीक्षा—

समालोचना की इस प्रवृत्ति के मुख्यतः दो रूप मिलते हैं…… एक साहित्यिक इतिहास के रूप में और दूसरा एक दृष्टिकोण विशेष के रूप में। इस प्रवृत्ति के प्रथम रूप के अन्तर्गत साहित्य और उसके विविध अंगों का ऐतिहासिक दृष्टि से परम्परागत

१. डा० दशरथ ओझा, 'समीक्षा शास्त्र' पृ० २१५

विवरण प्रस्तुत किया जाता है। तथा दूसरे रूप का समावेश आलोचना की अन्य प्रवृत्तियों में किया जाता है यह प्रवृत्ति भिन्न-२ युगों में होने वाले साहित्यिक विकास का शुष्क और तथ्यात्मक विवरण प्रस्तुत करने की अपेक्षा एक विशिष्ट और युग-सम्मत दृष्टिकोण से तद्युगीन उपलब्धियों का लेखा जोखा प्रस्तुत करती हैं तथा भावी विकास के संकेत-सूत्रों का सचयन करती है[1]। ऐतिहासिक समीक्षा इस तथ्य को स्वीकार करती है कि साहित्य या काव्य व्यक्तित्व को अभिव्यक्ति के साथ-साथ जीवन की समीक्षा भी है। समीक्षक का तटस्थ दृष्टिकोण पर्यवेक्षण का वैशिष्ट्य सांस्कृतिक उपलब्धियों की चेतना को विकासशील बनाता है जिससे उपलब्धियों की वह धरोहर स्वतः एक युग से दूसरे युग तक हस्तान्तरित होती रहती है। इस प्रवृत्ति के प्रबुद्ध समालोचक इस तथ्य की खोज मे संलग्न रहते हैं कि विविध युगों की ऐतिहासिक परिस्थितियों के फलस्वरूप जो सांस्कृतिक धरोहर प्राप्त हुई है उसमें भावी चिन्तन को प्रशस्त करने की कितनी सामर्थ्य है। इस विषय मे अंग्रेज आलोचक मैथ्यू आर्नल्ड का कथन है कि "साहित्य उन विषयों को नहीं अपनाता जो अतीत हैं वरन् उनको अपनाता है जो शाश्वत हैं[2]"।

ऐतिहासिक प्रवृत्ति के प्रमुख समीक्षकों में आचार्य शुक्ल मिश्रबन्धु आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, सूर्यकान्त शास्त्री, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र आदि है। प्रारम्भ में यह प्रवृत्ति किसी साहित्यकार के नाम, जीवन परिचय, वंशावली, प्रमुख रचनाए तथा तिथियों आदि तक सीमित रही। किन्तु शनै. शनैः विस्तृत होती गई और एक सुनिश्चित दृष्टिकोण को अपनाती गई।

४. छायावादी समीक्षा—

इस प्रवृत्ति को अपनाने वाले छायावादी कवि हैं जिन्होंने उत्कृष्ट समीक्षात्मक लेखों के रूप में, साहित्य के सिद्धान्त पक्ष का विवेचन करते हुए, उसके विविध पक्षो और शिल्प-सौन्दर्य के विषय में विचार किया है। जहां प्रसाद ने शास्त्रीय समीक्षा

---

१. डा० प्रताप नारायण टंडन, हिन्दी साहित्य का प्रवृत्तिगत इतिहास, पृ० ४०६
२. डा० दशरथ ओझा, समीक्षा शास्त्र, पृ० २१६

और साहित्य-परम्परा में छायावाद का स्थान निर्धारित किया है वहां पंत ने विज्ञान युग की मान्यताओं के अनुरूप साहित्य की गतिविधियों का मूल्यांकन किया है। निराला ने भारतीय संस्कृति के आधार पर आधुनिक साहित्य के सिद्धांतों का निरूपण किया है तो महादेवी वर्मा ने आदर्शवाद, रहस्यवाद, यथार्थवाद आदि की साहित्यिक समीक्षा की है। इस प्रकार इस प्रवृति से साहित्यिक शोध को नूतन सृजनात्मक प्रेरणा मिली है।

५. शोधपरक समीक्षा—

हिन्दी—आलोचना के क्षेत्र में परिलक्षित होने वाली विविध प्रवृत्तियों में एक शोध-परक प्रवृत्ति भी है। इसका प्रारम्भ शुक्लजी ने किया है और विकास डा० श्याम-सुन्दर दास ने तथा पल्लवन विभिन्न विश्वविद्यालयों में लिखी जाने वाली पी-एच. डी. और डी० लिट्० की थीसिसों के रूप में हुआ है[1]। इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत विभिन्न विश्वविद्यालयों में प्राचीन साहित्य की खोज और उनका मूल्यांकन किया जाता है तथा बृहद् प्रबन्धों की रचना के साथ-२ शोध के विविध रूपों का निर्धारण एवं उनकी वैज्ञानिक प्रणालियों की रचना का कार्य भी किया जाता है। यथार्थ रूपों मे, विश्व-विद्यालयों में हिन्दी भाषा, साहित्य और समीक्षा विषयक प्रचुर कार्य से स्वतन्त्र रूप में विकसित शैली को ही शोधपरक समीक्षा-प्रवृत्ति कहा गया है। इसका व्यापक रूप कविपरक शोधप्रवृति, सम्प्रदायपरक शोधप्रवृत्ति, शास्त्रपरक शोधप्रवृत्ति और भाषा वैज्ञानिक शोधप्रवृत्ति के रूप में दृष्टिगोचर होता है।

६. सौष्ठववाद या स्वच्छन्दवादी समीक्षा—

इस प्रवृत्ति के मूल में पौर्वात्य और पाश्चात्य साहित्य शास्त्र के मुख्य सिद्धांतों के समन्वय की भावना है। इसके विचारकों में पौर्वात्य और पाश्चात्य समीक्षा शास्त्र मे उन तत्वों को ग्रहण किया है जो साहित्य के मूल्यांकन का व्यापक दृष्टिकोण बनाने में सहायक हो सकते हैं। इस प्रवृत्ति के सभी समीक्षक काव्य में रसानुभूति एवं

---

१. डा० जयकिशन प्रसाद खण्डेलवाल, हिन्दी साहित्य का प्रवृत्तिगत इतिहास, पृ० ६६८

आत्माभिव्यक्ति के पोषक कर रहे हैं। स्वच्छन्दता और सौष्ठव उनकी मूल प्रेरणा है। इस प्रवृत्ति को डा० नगेन्द्र, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, हजारी प्रसाद द्विवेदी, बाबू-गुलाबराय, शान्ति प्रिय द्विवेदी, आचार्य विनयमोहन शर्मा डा० देवराज आदि गणमान्य समीक्षकों ने स्वीकारा और इसके विकास में योगदान दिया। इस प्रवृत्ति में निम्नलिखित तथ्यों की प्रमुखता परिलक्षित होती है—

(क) इसमें साहित्य और जीवन के अन्योन्याश्रय सम्बन्ध का प्रतिपादन किया गया है।

(ख) अनुभूति और आत्माभिव्यक्ति पर अधिक बल दिया गया है।

(ग) सौन्दर्य और आनन्द को काव्य का उपजीव्य स्वीकार किया गया है।

(घ) आत्म चिन्तन और भाव प्रवणता के साथ व्यक्तिस्वातन्त्र्य के मूल्यों की प्रतिष्ठापना की है।

(ङ) युग सत्य के साथ जीवन के क्रमिक विकास में निहित सत्य को अधिकता के साथ ग्रहण किया है।

(च) प्रसार और व्यापकता के कारण दृष्टि स्वच्छन्द एवं रूढ़ि मुक्त है।

७. मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा—

यह समीक्षा प्रवृत्ति स्पष्टतः फ्रायड के अवचेतन विज्ञान से प्रभावित है। मानव के अन्तर्मन का द्वन्द्व इसका मुख्य विषय है। मानव चेतना के अतलगह्वरों में जो जो प्रच्छन्न नाटक होता रहता है उसी का प्रकाशन अवचेतन विज्ञान का लक्ष्य है। फ्रायड ने इसके लिए कुछ विशिष्ट प्रविविधियों की उद्भावना की है जिनके माध्यम से मानव व्यापार के प्रच्छन्न प्रयोजनों तथा मानव की नियति के रहस्यात्मक रूपों के उद्घाटन के अवसर प्राप्त हो सके हैं[1]।

डा० रामेश्वरलाल खण्डेलवाल के अनुसार वह समीक्षा, जिसमें मन के विश्लेषण की प्रधानता हो तथा काव्य या साहित्य की उत्कृष्टता के निकष का निर्माण हो, मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा कहलाती हैं[2]। इस प्रवृत्ति के अनुसार साहित्य या कला मानसिक ग्रन्थियों की अभिव्यक्ति है तथा मनोविज्ञान, मानव की मानसिक प्रक्रि-याओं का विश्लेषण करने वाला शास्त्र है।

---

१. डा० नगेन्द्र, नयी समीक्षा: नये संदर्भ, पृ० १०

२. डा० रमेश्वर लाल खण्डेल वाल, "हिन्दी आलोचना के आधार स्तम्भ", पृ. ५५

हिन्दी में इस प्रवृत्ति की प्रतिष्ठा करने वालों में इलाचन्द जोशी प्रमुख हैं। उन्होंने अपने उपन्यासों, कहानियों और साहित्यिक समीक्षाओं में इस प्रवृत्ति को सर्वाधिक रूप में ग्रहण किया है। इनके अतिरिक्त साहित्य में नवीन शिल्प विधि के कथाकार 'अज्ञेय' साहित्य को, साहित्यकार की आन्तरिक क्षमता का स्वयंभूत फल स्वीकार करते हैं जिसे बलात् पैदा नहीं किया जा सकता है[1]। चिन्तकों में जैनेन्द्र-कुमार प्रमुख है जिनकी क्रियात्मक और समीक्षात्मक कृतियां इस क्षेत्र में उनके दृष्टि-कोण की परिचायक है।

८. प्रगतिवादी या मार्क्सवादी समीक्षा—

यह प्रवृत्ति इस शताब्दी के चतुर्थ दशक में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना के साथ प्रकाश में आई। यह मार्क्सवादी विचारधारा को लेकर चलती है। सामयिक राजनीति इसका नियमन करती है। इस प्रवृत्ति के चिन्तकों का दर्शन विकास तथा परिवर्तन की दृष्टि पर आधारित है। ये आत्मा को नहीं अपितु, पदार्थ को ही सृष्टि का परम तत्त्व मानते हैं। इसी दर्शन से प्रेरणा लेकर इन समीक्षकों ने अपनी समीक्षा के निकष तैयार किए हैं। इस काल की यह सबसे विवादग्रस्त प्रवृत्ति है जिसमें वर्ग संघर्ष और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्तों को साहित्य पर ज्यों का त्यों लागू करने का प्रयास किया जाता रहा है[2]।

मार्क्स, तर्क की द्वन्द्वात्मक प्रणाली के द्वारा जगत के सत्य का अन्वेषण करता है। वह समस्त प्रक्रियाओं, समस्त चिन्तन, सम्पूर्ण साहित्यिक विधाओं एवं समस्त शास्त्रों को परिस्थितियों से परिचालित मानता है और इन सबका आधार अर्थ को स्वीकार करता है। प्रगतिवाद मार्क्सवाद का ही पर्याय है जो साहित्य, संस्कृति एवं समाज की व्याख्या इसी सिद्धान्त से उद्भूत ऐतिहासिक भौतिकवाद के आधार पर करता है। इस प्रवृत्ति के उन्नायकों में डा० रामविलास शर्मा, शिवदान सिंह चौहान, प्रकाशचन्द गुप्त, अमृतराय और डा० नामवर सिंह प्रमुख हैं।

१. स० ही० वात्स्यायन अज्ञेय'- त्रिशंकु', (भूमिका) पृ० ७०

२. स० शिवनाथ, 'हिन्दी आलोचना की अर्वाचीन प्रवृत्तियां'. पृ० ११

इस प्रवृत्ति के समीक्षकों की वर्गहीन समाज की कल्पना मानव-कल्याण की भावना से ओत-प्रोत और उदात्त तथा मनोहारी है। उनके सामाजिक न्याय, श्रम, समानता और स्वतन्त्रता के आदर्श बड़े प्रेरक हैं। इन्होंने छायावादी काव्य को भावुकता और कल्पना के चंगुल से निकालकर इसे अधिक जीवनोपयोगी बनाने में सहायता की है। इतना कुछ करने पर भी इन समीक्षकों का दृष्टिकोण प्रभावशाली सिद्ध नहीं हो सका है और काव्य मर्मज्ञों एवं सहृदयों की सहानुभूति भी प्राप्त नहीं कर सकता है, क्योंकि इन्होंने समाज के आगे व्यक्ति की सत्ता को तुच्छ और नगण्य बना दिया है। फिर भी, इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस प्रवृत्ति ने हिन्दी-समीक्षा के विकास मे अपने ढंग से मपत्त्वपूर्ण योग दिया है।

६. रूपात्मक समीक्षा : नयी समीक्षा—

आधुनिक युग में प्रचलित और बहुचर्चित प्रवृत्ति ·····रूपात्मक समीक्षा के मूल में भी स्वच्छन्दतावादी विचारधारा की प्रेरणा निहित है। इसका प्रचलित नाम 'नयी समीक्षा' है। इस समीक्षा में कविता के अस्तित्व को धारण करने वाले ऐसे तत्त्वों और उनके अन्त: सम्बन्धों का विश्लेषण होता है, जिनके द्वारा उसके 'रूप' की रचना होती है। यह ऐसी शब्द-मूर्ति है जिसका अस्तित्व ही प्रमुख है अर्थ नहीं।

'नयी समीक्षा' शब्दावली का प्रयोग जोएल सिपगार्न ने सन् १९११ ई० में किया है किन्तु इसका वास्तविक आरम्भ जानक्रो रैन्सम की पुस्तक 'दन्यू क्रिटिसिज्म' (सन् १९४१) की भूमिका के द्वारा हुआ है[1]। सामान्य रूप से इसके उन्नायकों में जानक्रो रैन्सम, एलेन टेट, रिचर्ड पी ब्लैकमर, क्लीन्थ ब्रुक्स तथा विलियम एम्पसन के नाम लिए जा सकते हैं।

नयी समीक्षा में नये पुराने अनेक सिद्धान्तों का समावेश हुआ है। इसमें रिचर्ड्स के अर्थ-सिद्धान्त, इलियट के सम्मूर्तन विधान, एम्पसन के अनेकार्थता सिद्धान्त, रैन्सम

---

१. टा० नगेन्द्र : 'नयी समीक्षा : नये संदर्भ', पृ० १४

२. डा० शिवकरण सिंह : हिन्दी आलोचना के बाद और नयी समीक्षा' पृ० १३४

से शब्दार्थ विधान ब्रुक्स के विरोधाभास, ब्लैकमर के भंगिमा या हाव सिद्धान्त, एलेन टेट के तनाव सिद्धान्त, और विमसाट के साहित्य मे मूर्त सार्वभौम, की मान्यता को समाहित किया गया है। इन सभी सिद्धान्तों में एक आन्तरिक संगति हैं जो शब्दार्थ सिद्धान्त या रूपवादी सिद्धान्त के रूप क्रियाशील है[2]। काव्य और उसकी समीक्षा से सम्बद्ध कतिपय मौलिक तथ्यों के विषय में इनमे प्रायः ऐकमत्य है।

रूपात्मक नयी समीक्षा का अभ्युदय प्रभाववाद मार्क्सवाद फ्रायड़वाद नैतिक आचारवाद अथवा ऐतिहासिकता की प्रतिक्रिया के रूप मे हुआ है। इस प्रकार ऐतिहासिक पद्धति का विरोध और उपेक्षा की भावना ही इस समीक्षा का मूल लक्षण है। ऐतिहासिक अथवा उसके समान धर्मा अन्य समीक्षा सम्प्रदाय प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में, मानव-जीवन के किसी न किसी पक्ष के साथ काव्य की संगति या अनुरूपता को अभिव्यक्त करते हैं। किन्तु नयी समीक्षा केवल काव्य की संरचनात्मक अन्विति या काव्य-कृति के अंगों के परस्पर सम्बन्ध एवं समंजन का ही विवेचन करती है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि कविता एक स्वतंत्र कृति या कला-वस्तु है। अपने से परे किसी विचार या अनुभव की व्यंजना नहीं[1]'।

नयी समीक्षा मुख्यतः काव्य भाषा की समीक्षा है जिसमें आलोचक का ध्यान पाठ-विश्लेषण पर केन्द्रित रहता है। यह समीक्षा कविता की आत्मा की खोज को छोड़कर शरीर की जीवन्त प्रक्रिया का अध्ययन करती है। कविता का गोचर रूप है भाषा अथवा शब्द–विधान। यही कविता के शरीर की जीवन्त–प्रक्रिया या रुप रचना की अन्विति है।

नयी समीक्षा को काव्य–भाषा की दृष्टि से देखा जाए तो यह स्पष्ट हो जाता है कि काव्य भाषा के अतिरिक्त कुछ नहीं है। भाषा ही काव्य है और काव्य ही भाषा है। काव्य का आधार भाव या विचार नहीं अपितु भाषा है; क्योंकि किसी कवि का

---

१. डा० नगेन्द्र ......'नयी समीक्षा नये संदर्भ' पृ० १५

दर्शन कुछ भी हो पाठक तो उसे उसकी भाषा के द्वारा ही जानता है। उसके कथ्य की उचित सीमा उसकी भाषा ही है। इसी कारण नयी समीक्षा पाठ विश्लेषण पर अपना सारा ध्यान केन्द्रित रखती है।

नयी समीक्षा के चिन्तकों में धर्मवीर भारती 'अज्ञेय' लक्ष्मीकान्त वर्मा आदि प्रमुख है। इन समीक्षकों ने कलाकार के व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के नाम पर सामाजिक मर्यादा मूल्यों की उपेक्षा की है। इस प्रकार नयी समीक्षा अपने पूर्ववर्ती या समसामयिक सिद्धान्तों के अतिवाद का विरोध करते स्वयं एक नये अतिवाद में फंस गई है तथा मन की रागात्मकता के चिरन्तन सत्य को झुठलाने का गलत प्रयास कर रही है[1]।

१०. शिकागो समीक्षा या बहुलवादी समीक्षा—

आधुनिक युग में एक और नवीन प्रवृत्ति का उदय हुआ है। इस प्रवृत्ति को बहुललवादी और नव अरस्तूवादी समीक्षा आदि नामों से जाना जाता है। इस प्रवृत्ति के अधिकांश समीक्षक शिकागो विश्वविद्यालय में अध्यापक रहे हैं। इसी से इसे शिकागो समीक्षक नाम भी दिया गया हैं। इस समीक्षा-प्रवृत्ति में आर. एस. क्रेन के नेतृत्व में, एल्डर आल्सन रिचर्ड मैकेन, नार्मन मैक्लीन, डब्लू-आर. कीस्ट तथा बर्नार्ड वीनबर्ग ने एक जुट होकर नयी समीक्षा के सिद्धान्तों से असहमति प्रकट की और अरस्तू के काव्य शास्त्र को केन्द्र में रखकर अपनी समीक्षा-पद्धति को विकसित किया[2]।

शिकागो समीक्षकों के अनुसार नयी समीक्षा में भाषा को एकान्तिक महत्त्व दिया गया है। काव्य भाषा के प्रति इस एकान्तिक आग्रह को 'एकलवाद' (मोनीज्म) की संज्ञा दी गई है। शिकागो समीक्षकों ने इस एकलवाद की प्रतिक्रिया स्वरूप 'बहुलवाद' की घोषणा की।

शिकागो समीक्षक सिद्धान्त के पूर्वग्रह से मुक्त होकर समस्त रचना के विश्लेषण द्वारा उसी से सिद्धान्त प्राप्त करते हैं तथा रचना के रूप और विधागत विश्लेषण को

---

१. वही पृ० ५८

२. डा० शिवकरणसिंह-आलोचना के आधुनिकवाद और नयी समीक्षा, पृ० १४६

महत्त्व देते हैं। इन समीक्षकों ने कविता के रूप विधान को महत्त्व दिया है और कथ्य तथा शिल्प को परस्पर संग्रहित माना है जो कार्य-कारण सम्बन्ध से आबद्ध हैं। इसे पृथक नहीं किया जा सकता। काव्य मे भाषा गौण महत्त्व की वस्तु है। वह केवल रूप के माध्यम से कथ्य को अभिव्यक्त करने का साधन है। यहां रचना साध्य है जबकि शब्द, उस रचना-रूपी भव्य भवन के नक्शों को भरने के साधन है।

शिकागो समीक्षकों ने रचना को समझने के लिए उसके रूप को साधन माना है जिसमें कार्य-व्यापार, चरित्र, विचार, भाव और काव्य भाषा आदि सभी कलात्मक ढंग से सन्निविष्ट होते हैं। इनकी इस मान्यता पर अरस्तू का प्रभाव है।

एल्डर आल्सन का स्पष्ट मत है कि भाषा अनुकूल वस्तु को समझने का साधन है। यह तभी पूर्ण और सफल होता है जब वह "यथा सम्भव सहित और स्पष्ट हो[3]"।

शिकागो समीक्षक यह स्वीकार करके चलते हैं कि आलोचक द्वारा विवेचित विषय-वस्तु को ध्यान में रखना अनिवार्य है। तभी वह रचना के कथ्य से परिचित होता है और उसके निर्माण में आने वाली कठिनाइयों से अवगत होता है। वह यह ज्ञान भी प्राप्त कर सकता है कि रचनाकार ने उन समस्याओं का समाधान कैसे किया। यह सब कृति की राह से गुजरने पर सम्भव है कृति पर अपने आपको आरोपित करने से नहीं।

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि शिकागो समीक्षकों ने आलोचना को नयी समीक्षा के अतिवादों से निकालकर अन्य आवश्यक स्वरूपों से सम्बन्ध किया है तथा नयी समीक्षा में जो जीवन का तत्त्व विरल हो गया था, उसे उन्होंने पुन: सघन बनाने का श्लाघनीय प्रयत्न किया है। जिससे समीक्षा एक बार फिर मानवीय और सांस्कृतिक संस्पर्शों से अलंकृत हो उठी है।

४. डा० शिवकरण सिंह, हिन्दी आलोचना के बाद और नयी समीक्षा, पृ० १४९

कुछ गणितीय विविधाएं

डा० विजयेन्द्र कुमार
गणित विभाग, विज्ञान संकाय,
गुरूकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

प्रस्तुत लेख में कुछ अन्य संबंधित विषयों पर चर्चा की गयी है सर्वप्रथम गणित के अति महत्वपूर्ण अंग कलन गणित के जन्म विषयों में लिखते हैं,

लैबिनिज ने कलन गणित संबन्धी सूत्र जून १६८७ में प्रथम बार प्रकाशित किये इस खोज के सम्बन्ध में न्यूटन से भी उनका पत्राचार चलता रहा। न्यूटन भी कलन गणित सम्बन्धी अपना शोध कार्य करते रहे। दोनों ने अलग-अलग विधियों से गणनाए की परन्तु अन्तिम परिणाम दोनो ने एक से ही प्राप्त किये। यह विवाद अन्त तक बना रहा कि कलन गणित के वास्तविक अविष्कारक कौन है? लैबिनिज अथवा न्यूटन, परन्तु लैबिनिज द्वारा प्रयुक्त सकेतो का ही प्रयोग अब भी किया जा रहा है लैबनिज ने x के मान मे अल्पांतर के लिए dx तथा y के मान मे अल्पांतर के लिए dy का प्रयोग किया था $y=f(x)$ के अवकलन के लिए आज भी लैबनिज द्वारा प्रयुक्त सकेत $\frac{dx}{dy}$ का प्रयोग किया जाता है। समाकलन के लिए जो सकेत आज भी प्रयुक्त होता होता है वह संकेत (S) भी लैबिनिज की ही देन है।

प्रायिकता सिद्धान्त गणित शास्त्र का एक महत्वपूर्ण अंग है इसके जन्म का श्रेय फ्रांसीसी जुआरी "केवेलिए द मेरे" को है। उन्होने गणितज्ञ पास्कल के समक्ष यह समस्या प्रस्तुत की 'दो व्यक्ति जुआ खेल रहे हैं और उन्हे तीन प्वाइंट बनाकर बाजी जीतनी है। मगर जब एक व्यक्ति दो प्वाइंट तथा दूसरा व्यक्ति एक प्वाइंट बना लेता है तो किसी कारण से उन्हें खेल बन्द करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में बाजी की रकम को उन दोनों में किस प्रकार बांटा जाये।"

इस समस्या को गणितज्ञों पास्कल तथा फर्मा ने हल किया उनके इस प्रयास मे ही प्रायिकता सिद्धांत का जन्म हुआ।

न्यूटन के अतिमहत्व पूर्ण शोधों में से एक द्विपद सिद्धांत है, यह प्रमेय न्यू की स्मारक समाधि पर भी अंकित है इसके अनुसार—

$$(अ + ब)^{न} = अ^{न} + \frac{न}{1} अ^{न-1} ब + \frac{न(न-1)}{1 \times 2} अ^{न^2} ब^2$$

$$+ \frac{न(न-1)(न-2)}{1 \times 2 \times 3} अ^{न-3} ब^3 \ldots\ldots$$

यह सूत्र विज्ञान की बहुत सी गणनाओं में प्रयुक्त होने के कारण बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ है, परन्तु इसके प्रयोग में कभी कुछ सर्तकता की भी आवश्यकता होती है अन्यथा विचित्र परिणाम प्राप्त हो सकते हैं, उदाहरणार्थ ऊपरलिखित परिणाम में अ = 1, ब = —3 तथा न = —1 रखने पर

$$\begin{aligned} \text{बांया पक्ष} &= (1-3)^{-1} \\ &= (-2)^{-1} \\ &= -\tfrac{1}{2} \end{aligned}$$

$$\begin{aligned} \text{दायां पक्ष} &= 1 + 3 + 9 + 27 + 81 \cdots\cdots\cdots \\ &= \text{अनन्त} \end{aligned}$$

$$\text{अत:} \quad -\tfrac{1}{2} = \text{अनन्त}$$

आशा है ऐसा परिणाम प्राप्त होने का कारण आप समझ गये हैं,

वृत्त उसकी परिधि तथा उसके व्यास से आप सुपरिचित है, किसी वृत्त के लिए परिधि और व्यास के अनुपात के रूप में जो संख्या प्राप्त होती है इसे ग्रीक भाषा के अक्षर π (पाई) से प्रदर्शित करते हैं, इसका शुद्ध मान ज्ञात करने के लिए स्वदेशी तथा विदेशी गणितज्ञ प्रयत्नशील रहे हैं उनके द्वारा प्राप्त परिणाम निम्न प्रकार है।

आर्किमीडिज ने सन् २१२ से पूर्व यह कहा था कि पाई का मूल्य $3\frac{1}{7}$ और $3\frac{10}{71}$ के बीच होना चाहिए, आर्यभट्ट ने पाई का मूल्य चार दशमलव स्थानों तक शुद्ध 3.1416 ज्ञात किया। लिऊ हुई ने यह मान इससे पूर्व सन् 263 में ज्ञात

कर लिया था। सन् 470 में सु छोड़ झी: ने अब तक का सर्वाधिक शुद्ध मान छः दशमलव अंकों तक 3.1415926 तथा 3.1415927 के बीच में ज्ञात किया। अन्त में पाई का मूल्य सन् 1889 में चुदनोवस्की बंधुओं ने 1,01,11,96,691 दशमलव अंकों तक कम्प्यूटर की सहायता से शुद्ध ज्ञात किया इस मूल्य को यहां लिखना संभव नहीं है।

कम्प्यूटर को यह रूप और गति प्राप्त करने में लम्बा समय लगा है, सर्वप्रथम गणक मशीन की 3500 ईसा पूर्व बनी होने की जानकारी मिलती है, वर्ष 1642 में गणितज्ञ पास्कल ने अठारह वर्ष की आयु में गणक मशीन बनायी, परन्तु पास्कल का गणक यन्त्र केवल जोड़ने तथा घटाने की क्रिया कर सकता था, लैबिनिज ने वर्ष 1671 में जो गणक यन्त्र बनाया वह जोड़ने, घटाने गुणा तथा भाग करने की क्रियाओं के साथ-साथ वर्गमूल भी निकालने में समर्थ था। वर्ष 1888 में जोन नेपियर के द्वारा बनाई गई गणक मशीन के सुधरे संस्करण से 1970 तक भी गणना कार्य होता रहा, सन् 1971 में चार्लस बाबेज ने ऐसी गणक मशीन का अविष्कार किया जिसे आधुनिक कम्प्यूटर्स का पूर्व रुप कहा जा सकता है। सर्वप्रथम कम्प्यूटर का संभवतः जून 1948 में मान्चेस्टर विश्वविद्यालय में प्रो—एम०एच०ए० न्यूमैन की देख—रेख में परीक्षण किया गया गया इसके बाद लगातार सुधार की प्रक्रिया पीढ़ी दर पीढ़ी चलती रही, अब तक कम्प्यूटरों का पांचवी पीढ़ी तक विकास हो चुका है।

कर्म सिद्धांत

डा० ईश्वर भारद्वाज अध्यक्ष, योग विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार, उ०प्र०

कर्म क्या है ?

वैशेषिक दर्शन में कहा गया है कि जो एक द्रव्यवाला, गुणरहित व संयोग-वियोग में निरपेक्ष स्वतन्त्र कारण हो, वही कर्म का लक्षण है[1]। वैशेषिक दर्शन में ही कहा गया है कि 'ऊपर उठना, नीचे गिरना, सिकोड़ना, फैलाना और चलाना ये क्रियाएं कहलाती हैं। कर्ता के साथ जुड़ने पर इन्हीं को कर्म कहते हैं।'[2]

उपर्युक्त दोनों कथनों से कर्म का महत्व समझ में आता है। कर्म में वे समस्त क्रियाएं आ जाएंगी जो व्यक्ति प्रातः काल सोकर उठने से रात्रि में सोने तक करता है। इस प्रकार कर्म का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। क्योंकि व्यक्ति कर्म किए बिना एक क्षण भी नही रह सकता।[3]

कर्म के भेद —

गीता के अनुसार कर्म के तीन भेद हैं— १. अकर्म २. विकर्म ३. कर्म[4]। फल-त्याग की भावना के साथ अनासक्त होकर कर्म करना अकर्म है। दुष्कर्म विकर्म है तथा सत्कर्मों को कर्म कहा है।

योग दर्शन में सामान्य जनों के लिए तीन प्रकार के कर्म कहे हैं – १. शुक्ल कर्म या पुण्य कर्म २. कृष्ण कर्म या पाप कर्म ३. शुक्ल-कृष्ण कर्म या पुण्य-पाप मिश्रित कर्म।[5] इन तीनों के अतिरिक्त चतुर्थ प्रकार के कर्म अशुक्लाकृष्ण अर्थात् पाप-पुण्य रहित कर्म होते हैं, जो योगियों के हैं। यही कर्म अनासक्त भाव से किए जाने वाले

---

१. एक द्रव्यमगुणं संयोगवियोगेष्वनपेक्षकारणमिति कर्मलक्षणम् ॥
वैशे० दर्शन—१/१/१६

२. उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति ।
कर्माणि ॥ वैशे० दशन – १/१/७

३. न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत ॥गीता—३/५

४. कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मण: ।
आकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥ —गीता-४/१७

५. कर्माऽशुक्लाऽकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् ॥ —योगसूत्र-४/७

योगसूत्र में पांच क्लेश कहे गए हैं—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश[1]। इन्हीं पांच के वशीभूत होकर व्यक्ति कर्म करता है, जिसके संस्कार बनकर चित्त में एकत्र होते रहते हैं और अनुकूल समय पर प्रकट होकर फल दे देते हैं। इसी कारण बार-बार जन्म लेना और मृत्यु को प्राप्त होना पड़ता है क्योंकि जाति, आयु और भोग इन्हीं के फलस्वरूप प्राप्त होता है[2]।

कर्माशय— पाप अथवा पुण्य अथवा पाप-पुण्य मिलकर वासना का बीज चित्त में बो देते हैं, जो समय आने पर फल देता है। इसी को वासना कहा है। मीमांसक इसे अपूर्व और नैयायिक अदृष्ट कहते हैं। यही धर्माधर्म है, जो मृत्यु के बाद साथ जाता है। इसी को कर्माशय कहा जाता है। इस कर्माशय का फल ही जाति, आयु और भोग होता है। पूर्व जन्मों के संस्कारों के कारण उसे मनुष्य, पशु, स्थावर आदि में से कोई योनि मिलती है। जो आयु और भोग उसको भोगने हैं, वे भी संचित कर्मों के फलस्वरूप मिलते हैं। किन्तु एक बात विचारणीय है कि योनि (मनुष्य, पशु आदि) को बदलने का अधिकार तो उसको नहीं है किन्तु आयु और भोग में वह वृद्धि और कमी कर सकता है।

आयु–विचार—व्यक्ति सत्कर्मों में रत रहकर अपनी आयु और भोग को बढ़ा सकता है तथा अशुभ व पापमय कर्मों में लिप्त व्यक्ति अपनी आयु और भोग को घटा लेता है। ईश्वर के प्रति समर्पित व सत्य, अहिंसादि का पालक व्यक्ति अपने सांसारिक सुखों व आयु में वृद्धि कर सकता है। प्राणायाम द्वारा शरीर को स्वस्थ रखकर तथा प्राण–गति को कम करके आयु वृद्धि की जा सकती हैं। इसी प्रकार चोरी, व्यभिचार आदि बुरे कर्मों में रत व्यक्ति अपने आगामी जीवन को तो बिगाड़ ही लेता है, इस जन्म में भी विभिन्न कष्ट भोगता है। पुलिस की मार, जेल, अर्थदण्ड, भूख आदि से पीडित वह व्यक्ति शीघ्र ही प्राण–त्याग कर देता है। लोक में इस तरह की व्यवस्था देखने में आती है।

---

१. अविद्यास्मिता रागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः ॥ योगसूत्र—२/३

२. सतिमूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगा ॥ योगसूत्र—२/१३

कर्म हैं, जो फल प्रदान नहीं करते। योगी उस अवस्था को प्राप्त कर लेता है, जब उसके द्वारा किए गए कर्म बन्धन के कारक नहीं होते। इन्हीं कर्मों को गीता में निष्काम कर्म कहा है। ऐसे कर्म ही 'कुशल कर्म' कहलाते हैं। कर्मों में कुशलता को योग कहने का तात्पर्य भी यही है।[1]

इस प्रकार कर्म के मुख्य दो विभाग हुए—सकाम और निष्काम। सकाम कर्म वे हैं जो किसी कामना से किये जाते हैं। वे होते तो अच्छे कर्म ही हैं। दूसरे निष्काम कर्म वे हैं जो किसी कामना से न करके केवल कर्तव्यपालन की दृष्टि से किए जाते हैं। इनमें से पहले प्रकार के कर्म किए जाने के बाद फल प्रदान करते हैं। उस फल को भोगने के लिए जन्म लेना पड़ता है अतः ये कर्म बन्धन कारक कर्म हैं। दूसरे प्रकार के कर्म कामनारहित होने से फल प्रदान नहीं करते। अतः जन्म के कारण नहीं बनते। अर्थात् ये कर्म मोक्ष प्रदान करने वाले हैं। इसलिए योगी निष्काम कर्म करके मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

कर्म के तीन विभाग क्रिया के कारण किए गए हैं— क्रियमाण, संचित और प्रारब्ध। क्रियमाण, वे कर्म हैं, जो वर्तमान समय में हो रहे हैं। संचित कर्म वे हैं, जो हो चुके हैं और जिनका फल देने का समय नहीं आया है। प्रारब्ध वे कर्म हैं, जो फल दे रहे हैं।

कर्मफल—

प्रारब्ध कर्म व्यक्ति के अपने किये कर्म ही होते हैं। उन्हीं कर्मों के फल-भोग के लिये उसका वर्तमान जीवन होता हैं। क्रियमाण कर्म में से कुछ तत्काल फल देने वाले कर्म प्रारब्ध बन जाते हैं और कुछ उस समय फल न देने के कारण संचित हो जाते हैं। संचित कर्म प्रारब्ध बनकर फल अवश्य देते हैं। इसीलिए कहा जाता है कि कर्म-फल अवश्य ही भोगना पड़ता है।[2] कर्म करने के पश्चात् कमान से छूटे तीर की तरह रोके नहीं जा सकते। वे तो फल अवश्य देंगे। इसलिए फल-भोग में व्यक्ति की परतन्त्रता कही जाती है।

---

१. योगः कर्मसु कौशलम् ॥ गीता—२/५०
२. अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ॥ ब्रह्मवैवर्त पुराण—कृष्णजन्म—४४

वेद में भी कहा है कि वह आदित्य ब्रह्मचारी सदैव हमें सन्मार्ग पर अग्रसर करे और प्राण हमारी आयु को परिपूर्ण करें[1]। इस कथन से अभिप्राय है कि आयुवृद्धि प्राण द्वारा सम्भव है और सुकृत हमें सुमार्गगामी बनाते हैं। इसी कारण वेद में अनेक स्थलों पर सौ वर्षों और सौ से अधिक वर्षों तक जीने की कामना की गई है[2]।

आयु-निर्धारण के सम्बन्ध में कुछ लोग आयु को वर्षों में मानते हैं लेकिन आयु को प्राण के आधार पर ही माना जाना उचित है। योगियों के बारे में प्रसिद्ध है कि वे आयु को बढ़ा लेते हैं। इसका उपाय प्राणायाम है। प्राण को दीर्घ और सूक्ष्म करके आयु में वृद्धि की जा सकती है। सामान्य रूप से एक व्यक्ति एक मिनट में १५ श्वास तथा एक दिन में २१,६०० श्वास लेता है। यदि एक मिनट में वह प्राणायाम करके १५ के स्थान पर ५ श्वास व्यय करे तो उसकी आयु निर्धारित आयु का तीन गुणा हो जाएगी। यही आयु-वृद्धि का रहस्य है।

कर्मफल–भोक्ता कौन ?

जैसे राजा की सेना की जीत-हार राजा की होती है, वैसे ही मन, इन्द्रियां, बुद्धि शरीर आदि के द्वारा किए गए कर्मों का दायित्व भी आत्मा का ही होना चाहिए क्योंकि आत्मा ही इस शरीर रूपी रथ का रथी है[3]। सांख्यदर्शन में भी कहा गया है कि जैसे भोज्य पदार्थ रसोइया बनाता है किन्तु भोग स्वामी का होता है, उसी प्रकार मन, बुद्धि, इन्द्रियों द्वारा किए कर्म का भोग आत्मा को ही होता है[4]।

---

१. स नो विश्वाहा सुक्रतुरादित्यः सुपथा करत्।
 प्राणः आयूंषि तारिषत्॥ ऋ०— १/२५/१२

२. (i) पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतम्। यजु० ३६/२४
 (ii) भूयश्च शरदः शतात्॥ वही
 (iii) जिजीविषेच्छतं समाः॥ यजु० ४०/२
 (iv) त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्।
 यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नोऽस्तु त्र्यायुषम्॥ यजु० ३/६२

३. आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
 बुद्धिन्तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥ कठोपनिषद्—३/३

४. अकर्तुरपि फलोपभोगोऽन्नाद्यवत्॥ सांख्य–१/१०५

कर्म स्वातन्त्र्य—

न्यायदर्शन मे शंका समाधान की गई है कि ईश्वर कर्म-फल प्रदाता है[1] अर्थात व्यक्ति कर्मफल प्राप्त करने के लिये परतन्त्र है। कर्म फल प्राप्त करने मे परतन्त्र है तो कर्मफल करने मे वह अवश्य ही स्वतन्त्र होना चाहिए। वेदान्त में भी कहा गया है कि जीव के इच्छानुसार विचरने से उसकी कर्म-स्वतन्त्रता सिद्ध होती है।[2] वह फिर बुरे कार्य क्यो करता है? वह अपने किए अच्छे ही कार्य क्यो नही करता? इसका समाधान दिया है कि उसको अनुकूल व प्रतिकूल शक्तियां प्राप्त हैं। इसलिए वह अशुभ कार्य भी कर लेता है[3]। आगे कहा गया है कि असावधानीवश (चित्त—चांचल्यवश) वह अपने लिए अशुभ कर्म भी कर लेता है[4]। मीमांसा मे भी जीव को स्वतन्त्र कर्ता के रूप में माना गया है[5]। स्वामी दयानन्द सत्यार्थ प्रकाश मे कहते हैं कि जीव अपने कर्तव्य कर्मो मे स्वतन्त्र और ईश्वर व्यवस्था मे परतन्त्र है[6]।

इससे स्पष्ट है कि जीव कर्म करने मे स्वतन्त्र तथा फलभोग मे परतन्त्र है। यदि वह कर्म करने मे परतन्त्र होगा तो फलभोग का अधिकार भी उसका नही होगा क्योंकि कर्ता को ही फल मिला करता है। यदि कर्ता वह ईश्वर है तो फल भी ईश्वर ही को भोगना चाहिए। किंतु लोक-व्यवहार मे देखा जाता है कि जीव ही कष्ट भोगा करता है। अतः जीव को कर्ता मानना आवश्यक है।

अपराध—क्षमा करना—

ईश्वर को न्यायकारी कहा जाता है। यदि वह दण्ड न दे, उसके अपराध क्षमा कर दे, तो वह न्यायकारी न रहे। उसके इस कार्य से अव्यवस्था हो जाएगी। लोग

---

१. तत्कारितत्वादहेतु ॥ न्याय० ४/१/२१

२. विहारोपदेशात्—वेदान्त० २/३/३४

३. शक्ति विपर्ययात्—वही—२/३/३८

४. समाध्य भावाच्च ॥ वही—२/३/३९

५. प्रयोगे पुरुष श्रुतर्यथा कामी प्रयोगे स्यात्। मीमांसा ६/१/३

६ सत्यार्थ प्रकाश-सप्तम समुल्लास।

अपराध करके क्षमा-याचना कर लेंगे। तीर्थयात्रा, दान, गंगा स्नान आदि से यदि अपराध नष्ट हो जाएं तो लोग अपराध करके ये सब कर लेंगे। इससे संसार में अव्यवस्था हो जाएगी। उसकी दयालुता दण्ड देकर ठीक करने में है। यही उसका न्याय है। अतः उसका अपराध क्षमा न करना अन्याय या अदयालुता नहीं है।

पापों से बचने का उपाय—

यदि व्यक्ति पापों से बचना चाहे तो वह ईश्वर प्रणिधान का आश्रय ले। अपना सब कुछ परमात्मा को समर्पित कर दे। इससे उसका आगामी जीवन पापरहित हो जाएगा। यम-नियमों के अभ्यास से क्लेशों को तनु करके समाधि की अवस्था प्राप्त होने से पूर्वकृत पापों के संस्कार शुद्ध मन, बुद्धि पर न पड़ने के कारण वे पापलिप्त नहीं होंगे, जिससे पापकर्म में प्रवृत्ति नहीं होगी। अतः पूर्वकृत पापकर्म फल देने में असमर्थ हो जाएगें। इस प्रकार पापकर्म से छुटकारा हो जाएगा। ऐसे साधक की जीवन्मुक्तावस्था की स्थिति हो जाएगी तथा शरीर छूटने पर वह मोक्ष का अधिकारी होगा[1]।

---

१. शुभाशुभ फलैरेवं मोक्ष्यसे कर्म बन्धनैः।
संन्यास योग युक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥ —गीता ९/२८

कर्म कुरु

डा० सत्यवीर विद्यालंकार,
३४४, सैक्टर-१४, रोहतक, हरियाणा

कर्म और कर्मफल— 'कर्म कुरु' यह उपनिषद् का आदर्श वाक्य है। कर्म करो-यह आदेश मनुष्य के लिये है, क्योंकि मनुष्य की योनि कर्मयोनि है। यहां अर्थापत्ति से यह भी सिद्ध होता है कि बिना कर्म किये, निठल्ले न बैठे रहो। यह कर्म में सदा निरत रहने का सन्देश मानव के लिए क्यों आवश्यक है? इसका कारण यह है कि मनुष्य का यह जीवन मिलने का आधार कर्म ही है। इसीलिये यह सिद्धांत है कि कर्म का अच्छा अथवा बुरा अर्थात् यथायोग्य फल प्राणी को अवश्यमेव मिलता है[1]। इसके साथ ही यह भी निश्चित है कि जीवात्मा अपनी बुद्धि और सामर्थ्य के अनुसार कर्म करने में स्वतन्त्र है, किन्तु सर्वव्यापक परमात्मा की न्याय व्यवस्था के अनुसार अपने द्वारा किये गये कर्म का फल भोगने मे परतन्त्र है। अथवा इसे यों भी कह सकते हैं कि कर्म करने का मनुष्य का अधिकार है और उसका फल देने का अधिकार ईश्वराधीन है[2]।

यह सत्य है कि कर्म किये बिना मनुष्य अधिक समय तक जीवित नहीं रह सकता अकर्मण्यता तथा आलस्य मनुष्य के विनाश का कारण बनते हैं। फिर प्रभु ने मनुष्य को मन बड़ा विचित्र दिया है, जो बिल्कुल खाली तो कभी रहता ही नहीं, अच्छा या बुरा कुछ न-कुछ मनुष्य से करवाता ही रहता है। अतः प्रत्येक मनुष्य को अपनी उन्नति के लिये स्वयं शुभ कर्म करने चाहिए, जिससे कि उसको दुःख न भोगना पड़े। तात्पर्य यह हुआ कि दुःख से छुटकारा पाने के लिये भी अच्छे कर्मो का करना नितान्त अनिवार्य शर्त है। अतः इससे सिद्ध हो गया कि व्यक्तिगत लाभ के लिए भी विचार पूर्वक अच्छे कर्म ही करने चाहिए और दुष्कर्मों से बचना चाहिए, क्योंकि दुष्कर्मों का परिणाम दुःखदायी होता है। अच्छे कार्य करने और बुरे कर्म से बचने के लिए मनुष्य का अच्छा बनना आवश्यक है, क्योंकि अच्छे मनुष्य अच्छे कर्म करते हैं और बुरे मनुष्य

---

१. 'अवश्यमेव भोक्तव्यं-कृतं कर्म शुभाशुभम्।' गीता.

२. 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।' गीता.

बुरे कर्म करते हैं। यदि परमेश्वर की कृपा से मनुष्य समाज में सब अच्छे बन जायेंगे तो किसी को भी कष्ट न होंगे। यदि बुरे व्यक्ति होंगे तो उनके बुरे कर्मों से उनको स्वयं तो कष्ट होगा ही साथ ही दूसरों को भी दुःख भोगने पड़ेंगे। इस विवरण से सिद्ध है कि कर्म का बड़ा महत्व है। मनुष्य का जन्म और उसकी उन्नति या अवनति सब कुछ कर्म पर ही निर्भर है।

निष्काम कर्म का महत्व :

वेदों में मनुष्य को कर्मठ जीवन व्यतीत करने का अनेक स्थानों पर उल्लेख हुआ है। इसमें भी निष्काम कर्म की महिमा सबसे अधिक है। मनुष्य को निष्काम भाव से कर्म करते हुए सौ वर्ष से भी अधिक आयु भोगने का आदेश यजुर्वेद में दिया गया है[1]। ऐसा करने से मनुष्य कर्मफल की इच्छा में लिप्त नहीं होता है। अतएव प्रत्येक मनुष्य को कर्म को धर्म समझ कर करना चाहिए। उसके लिए कर्म ही धर्म हैं। धर्म ही कर्त्तव्य है, कर्तव्यको ही वर्तमान काल में ड्यूटी कहते हैं। अतः अपनी ड्यूटी अथवा कर्तव्य का ठीक प्रकार से पालन करना, अपने धर्म का पालन करना है। 'चरैवेति–चरैवेति' यह उपनिषद् का सुन्दर सन्देश है-कर्मठ बनो, कर्म करो, आगे बढ़ो, उन्नति करो। दिन भर परिश्रम पूर्वक शुभ कर्म करो परन्तु उसके फल की कामना में लिप्त न रहो। यदि व्यक्ति कर्म करके फल की इच्छा करता है, तो वह कोई बुराई नहीं करता। लेकिन कर्म के साथ उसके फल की इच्छा के जुड़ जाने से उसका आदर्श घट कर निम्न स्तर का हो जाता है। निष्काम कर्म बहुत ऊंची स्थिति के लोगों के लिये उच्च आदर्श है। मनुष्य के द्वारा फल की इच्छा से किये जाने वाले कर्म उसके बन्धन का कारण बनते है जबकि निष्काम भाव से किये जाने वाले कर्म उसकी मुक्ति का कारण बनते है। इससे स्पष्ट हो गया कि अपनी मुक्ति की इच्छा करने वाले व्यक्ति को निष्काम कर्म करने चाहिए। यदि यह कहें कि उपयोगिता को दृष्टि में रखते हुए सकाम कर्म करना चाहिए और कर्म को उपयोगी बनाने के लिए जायज व नाजायज सब कुछ करना

---

१. कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥' यजुर्वेद—४०-२।

चाहिए, तो गडबड़ हो जाएगी, क्योंकि उसके लिये तो झूठ बोलना पड़ेगा और छल-कपट भी करना पड़ेगा। यह उपयोगितावाद निरा स्वार्थ है, जो पाश्चात्य देशों की नकल का कारण है। इसमें अच्छे या बुरे का कोई अन्तर नहीं हों, केवल उपयोगिता अवश्य ध्यान मे रखी गई है। यह तो सकाम कर्म का निकृष्ट रूप है। इसलिये यह किसी भी स्थिति मे ग्राह्य नही है। कारण यह है कि कर्म के साधन भी पवित्र होने चाहिए।

कर्मफल से बचाव और क्षमा –

ऊपर कहा है कि मनुष्य को अपने किये हुए कर्म का फल अवश्य ही भोगना पड़ता है, वह कर्मफल से बच नहीं सकता। प्रश्न पैदा होता है कि क्या किये हुये कर्म के फल से बचने के लिये कोई उपाय है ? क्या कोई ऐसी विधि है, जिससे कर्म का फल न भोगना पड़े ? इसका सीधा और स्पष्ट उत्तर हैं कि चाहे मनुष्य कुछ भी करे, उसको अपने किये हुये कर्म का फल तो भोगना ही पड़ेगा। तो फिर पूजा-पाठ, जप-तप, यज्ञ दान व्रत-उपवास, जन्त्र-मन्त्र, जादू-टोना, झाड़-फूंक, मनौति-माफी, जागरण और गुरु मन्त्र ये सब किस चीज का इलाज है ? क्या इनके करने से भी कर्म फल को टलाया नहीं जा सकता ? फिर यह सब क्यों किये जाये ? इनका और क्या लाभ हुआ ? क्या मन्दिर, मस्जिद, चर्च और गुरुद्वारे में ध्यान, भक्ति या भजन करने से भी कर्म का फल नहीं टल सकता ? इन जैसे सारे प्रश्नों का उत्तर है—नहीं।

उपर्युक्त जितने साधन हैं, ये सब भी कर्मफल को दूर नहीं हटा सकते, क्योंकि परमेश्वर अपने श्रद्धालुओं तथा भक्तों के पाप कभी भी क्षमा नहीं करता। इसलिये मानव अपने पाप कर्म के फल से किसी भी तरह बच नहीं सकता। किसी विशेष स्थान या तीर्थ आदि की यात्रा करके या किसी तालाब या नदी आदि में स्नान करने से भी पाप कर्म नहीं धुल सकते। पुजारियों तथा मुल्लाओं द्वारा कराये जाने वाले अनुष्ठान आदि भी कर्मफल को रोक नहीं सकते। न कोई अवतार, पैगम्बर या देवी-देवता किसी के दुष्कर्मों का फल भार हल्का या कम कर सकते है। इन कुचक्रों व टण्टे-बखेड़ों में फंसकर मनुष्य बरबाद हो जाता है। इनका झूठा आश्रय मानकर वह आलसी प्रमादी और भाग्यवादी बनकर सब कुछ करना छोड़ बैठता है। इन झंझटों में धन-

सम्पत्ति तथा समय की बरबादी होती है तथा हाथ कुछ भी नहीं लगता। फिर बाद में शान्ति से सोचने पर मनुष्य को पश्चात्ताप करना पड़ता है यदि साधनों से कर्मफल टल जावे, तो शास्त्रीय कर्मसिद्धांत का अस्तित्व ही मिट जाये। कारण है कि यदि पाप कर्मफल धुल या मिट जाये, तो पापी निर्भय हो जावें और उनकी संख्या अत्यधिक बढ़ जायें। यदि ऐसा होने लगे, तो पाप करने वाले निश्चिन्त होकर पापकर्मों में प्रवृत्त हो जाये। सांसारिक कानून और न्याय व्यवस्था तथा परमात्मा की न्याय व्यवस्था में बड़ा अन्तर है। यहां तो जो कानून की पकड़ में न आवे अथवा रिश्वत या सिफारिश से बच जाता है, तो फिर खूब इतराता है। परन्तु परमात्मा का न्याय अटल है, उसमें देर भले ही लगती प्रतीत हो पर अन्धेर बिलकुल नहीं है। वहां किसी की सिफारिश या रिश्वत की कोई गुंजायश नहीं है। यदि मन्द बुद्धि या स्वार्थान्ध कोई व्यक्ति पूजा, पाठ आदि कर-करके पाप कर्म के दण्ड से बचने की सोचता है, तो वह स्वयं को धोखा देता है और दूसरों की आंखों में भी धूल झोंकने का व्यर्थ प्रयत्न करता है। क्योंकि यह सब कुछ उसकी मूर्खता और अन्धविश्वास के अतिरिक्त कुछ भी नहीं। जैसे बुरे कर्म का फल मिलना अटल है, वैसे ही अच्छे कर्म या फल भी अवश्यमेव मिलता है। उपर्युक्त भ्रान्तिपूर्ण तथा झूठी मान्यताओं को वैदिक साहित्य में कहीं पर भी समर्थन नहीं मिलता और न हमारी बुद्धि इसे स्वीकार करने के लिये तैयार होती है।

स्पष्ट है कि ईश्वर की न्याय व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति को अपने कर्मों के अनुसार पुरस्कार या दण्ड मिलता है यदि ऐसा ही है तो फिर ईश्वर की प्रार्थना, उपासना आदि करें? इसका उत्तर यह है कि पाप कर्मों के क्षमा की आशा से प्रभु की उपासना या प्रार्थना नहीं की जाती। प्रार्थना तो व्यक्ति अपनी आध्यात्मिक उन्नति के लिये करता है। यहां पर यह कहना भी गलत है कि मुस्लिम मतानुयायी यह मानते हैं कि खुदा सिर्फ मुसलमानों के गुनाहों (पापों) को तौबा करने से माफ करता है, अन्यों के नहीं। यदि खुदा ऐसा करे, तो वह निष्पक्ष और न्यायकारी खुदा नहीं। खुदा की दृष्टि में तो सब समान हैं, कोई भेद नहीं। ईसाइयों का विश्वास है कि ईसा मसीह अपने अनुयायियों के पापों के बोझ को स्वयं अपने सिर पर ढोकर ले जायेगा। जब

साधारण स्थिति वाला न्यायाधीश भी ऐसा नहीं करेगा, तो न्यायकारी ईसा ऐसा काम कैसे कर सकता है ? यह सब धोखा देने वाली मनघड़ण्त बातें है, जो बहुत चालाक किस्म के धूर्त लोगों की बुद्धि का व्यायाम हैं।

ईश्वर की दया और न्याय—

यह वैदिक सिद्धान्त है कि सर्वव्यापक प्रभु जीवों के कर्मों का ठीक-ठीक फल देने वाला है, न्यूनाधिक नहीं। इस पर प्रश्न पैदा होता है कि यदि ईश्वर जैसे का तैसा फल देता है, अर्थात् यदि बुरे कर्म का बुरा फल देता है तो वह दयालु नही हो सकता, क्योंकि दया तो तब होगी, जब अपराधी को छोड़ दिया जाये। यदि अपराध को क्षमा करना ईश्वर की दया मान ली जाये तो ईश्वर न्यायकारी न रहे। स्वामी दयानन्द ने इसका युक्तियुक्त उत्तर देते हुए लिखा है 'कि न्याय और दया का नाममात्र ही भेद है, क्योंकि जो न्याय मे प्रयोजन सिद्ध होता है वही दया से। दण्ड देने का प्रयोजन है कि मनुष्य अपराध करने से बन्द होकर दुःखों को प्राप्त न हों, दया कहाती है जो पराये दुःखों का छुड़ाना और जैसा अर्थ दया और न्याय का तुमने किया वह ठीक नहीं, क्योंकि जिसने जैसा जितना बुरा कर्म किया हो, उतना ही दण्ड देना चाहिए, उसी का नाम न्याय है और जो अपराधी को दण्ड न दिया जाय, तो दया का नाश हो जाय, क्योंकि एक अपराधी डाकू को छोड देने से सहस्रों धर्मात्मा पुरुषों को दुःख देना है। जब एक को छोड़ने मे सहस्रों मनुष्यो को दुःख प्राप्त होता है, वह दया किस प्रकार हो सकती है ? दया वही है कि उस डकू को कारागार मे रखकर पाप करने से बचाना डाकू पर और उस डाकू को मार देने से अन्य सहस्रों मनुष्यों पर दया प्रकाशित होती है। ईश्वर की पूर्ण दया तो यह है कि जिसने सब जीवो के प्रयोजन सिद्ध होने के अर्थ जगत् मे सफल पदार्थ उत्पन्न करके दान दे रखे हैं। इससे भिन्न दूसरी बड़ी दया कौन सी है ? अब न्याय का फल प्रत्यक्ष दीखता है कि सुख दुःख की व्यवस्था अधिक और न्यूनता से फल को प्रकाशित कर रही है। इन दोनो का इतना ही भेद है कि जो मन मे सबको सुख होने और दुःख छूटने की इच्छा और क्रिया करना है, वह दया और बाह्य चेष्टा अर्थात् बन्धन छेदनादि यथावत् दण्ड देना न्याय कहाता है। दोनों का एक प्रयोजन यह है कि सबको पाप और दुःखों से पृथक् कर देना।[1] प्रसिद्ध विचारक हर्बर्ट स्पेन्सर ने इसी प्रकार की गुत्थियो का

१. स्वामी दयानन्द सरस्वती, सत्यार्थ प्रकाश, सप्तम समुल्लास

समाधान भली प्रकार न समझ पाने और ठीक विश्वास न जमने के कारण परमेश्वर को अज्ञेय (Unknowable) कहा है।[1] यह अच्छी प्रकार समझ लेना चाहिये कि कुकर्मों या अपराधों को क्षमा करके अपराधी को उसके दुष्कर्म का फल न देकर छोड़ देना, दया बिल्कुल नहीं हैं, अपितु अन्याय है। उपर्युक्त उदाहरण से न्याय और दया का अन्तर समझ में आ सकता है। इन दोनों में वास्तविक अन्तर यह भी है कि न्याय के लिये कर्म की अपेक्षा है, किन्तु दया के लिए कर्म अपेक्षित नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि कोई भी न्यायकारी तब तक न्याय नहीं कर सकता जब तक कि कर्म न किया जावे। परन्तु दयालु अपनी ओर से दया करता है, उसके लिए किसी कर्म की आवश्यकता नहीं।

निष्कर्ष यह है कि मानव को कर्मफल अवश्य मिलता है। फलित ज्योतिष की करामातों, जादू-टोना, भूत-प्रेत, पापों के क्षय के लिये गंगा आदि नदियों में स्नान करने, तप, पुरश्चरण, कीर्तन, तौबा, हज क्षमा आदि करने कराने से कर्मफल का क्षय नहीं होता। कर्मों का फल भोगने और अनेक प्रकार का अनुभव लेने के लिए एक जन्म ही पर्याप्त नहीं है अतः अनेक जन्म लेने पड़ते हैं। जब तक सत्य ज्ञान, शुभकर्म और सच्ची उपासना के द्वारा मनुष्य मुक्ति के योग्य नहीं हो जाता। यह वैदिक धर्म का सिद्धान्त है, जो सर्वथा न्याय और तर्क सम्मत है। इसके द्वारा ही जगत् में दिखाई देने वाली विषमता की सन्तोषजनक व्याख्या हो सकती है। इसी से ईश्वर की निष्पक्षता और दया तथा न्याय आदि की व्यवस्था भी सिद्ध हो सकती है।

१. Herbert Spencer, First Principles.

जीवन में समुचित सामंजस्य ईश उपनिषद् की सीख

नरेन्द्र विद्यावाचस्पति

एक अच्छे शिक्षक अपने शिष्यों को सीख दे रहे थे। जीवन में स्वस्थ एवं प्रगतिशील रहने के लिए आवश्यक है कि न तो तन कर बैठो और न इतना लचको कि तुम्हारी कमर धनुष की तरह घूम जाए, प्रत्युत उसमें एक सन्तुलन रखो। इसी सम्बन्ध में एक ऐतिहासिक घटना है। दुध मुंहे पुत्र राहुल-पत्नी और कपिलवस्तु सरीखे राज्य का मोह छोड़कर सिद्धार्थ तपस्या के लिये चल पड़े। उन्होंने योग साधना सीखी, समाधि लगाई, केवल तिल-चावल खाकर कठिन तप शुरू किया, बाद में सब तरह का खाना बन्द कर दिया फल यह हुआ कि शरीर सूख कर कांटा हो गया। इस प्रकार कठिन तप करते हुए छः वर्ष बीत गए, पर सिद्धार्थ की तपस्या फलीभूत नहीं हुई एक दिन किसी नगर से समवेत मधुर स्वरों मे गाती हुई कुछ स्त्रियां निकली उनके समवेत मधुर स्वरों का बोल था—

वीणा के तार ढीले न छोड़ो, स्वर सुरीला न निकलेगा।
वीणा के तार इतने कसो भी नहीं कि वे चरमरा जाएं, टूट जाएं।

बात सिद्धार्थ को जंची, उन्हें विश्वास हो गया कि जीवन के लिए जहां नियमित सन्तुलित आहार-विहार अपेक्षित है, वहां जीवन भी उसी समय व्यवस्थित होगा जब उसमें किसी बात की अति न हो, उसमें मध्य मार्ग अपनाया जाये।

इसी तरह देश के प्रधानमन्त्री कहते है कि राष्ट्र की समस्याओं का समाधान तभी सम्भव है जब हम न तो अधिक बाईं ओर मुड़े और न अधिक दाईं ओर मुड़े बल्कि मध्य मार्ग में रहें। इन्हीं स्वरों को स्पष्ट अभिव्यक्ति देते एक प्रमुख अर्थशास्त्री कह रहे थे हमारा राष्ट्र उसी स्थिति में समृद्ध हो सकता है जब हमारे सभी देशवासी भौतिक रूप से सुखी हों और आध्यात्मिक रूप से सन्तुष्ट रहे दूसरे शब्दों में अर्थ हमारा आधार होना चाहिए और विज्ञान हमारा दृष्टिकोण होना चाहिए। जो उत्पाद हो उसकी समुचित आपूर्ति हो, एक ओर भरपूर उत्पादन हो और दूसरी ओर जन-जन तक समृद्धि पहुंचानी चाहिए। यह आर्थिक विचारधारा पुरुषार्थ के आधार पर परमार्थ की भावना से सफल हो सकती है।

थोड़ा– सा विचार या चिन्तन किया जाय तो स्पष्ट अनुभूति हो जाएगी जीवन को व्यस्थित प्रगतिशील बनाने तथा निर्धारित लक्ष्य की प्राप्ति के लिए केवल मध्य-मार्ग अपनाना पर्याप्त नहीं है, प्रत्युत जीवन में समुचित सामंजस्य स्थापित होना चाहिए। एक आधुनिक तत्त्व चिन्तक ने सामाजिक न्याय की उपलब्धि के लिए सलाह दी सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य बर्तना चाहिए। इस तरह आपने देखा कि जहा पुरुषार्थ और परमार्थ में समुचित सामंजस्य अपेक्षित है, सच्चे रामराज्य या जनराज्य की प्रतिष्ठा के लिए प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य व्यवहार अपेक्षित है। हम थोड़ा-सा गम्भीर अध्ययन एवं चिन्तन करें तो मालूम पड़ेगा कि इस उपनिषद् का भी यही सन्देश है।

विवेचक कहते है कि वेद माननीय चिन्तन या ज्ञान के प्रारम्भिक स्रोत है। उन्हीं वेदों की सरल व्याख्या उपनिषदों में की गई है। यजुर्वेद के अन्तिम चालीसवे अध्याय और ईशोपनिषद् मे बहुत थोड़ा अन्तर है। विवेचक कहते है कि कण्व ऋषि ने यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय को समझाने के लिए उस अध्याय मे वर्णित ब्रह्मविद्या को समझाने के लिए कुछ आंशिक परिवर्तन–परिवर्ध किया है। कई आलोचक कहते है कि वेदों में कर्मकाण्ड है, यजुर्वेद तो यज्ञो और कर्मकाण्ड का ग्रन्थ समझा जाता है, परन्तु इसी वेद का यह चालीसवां अध्याय ब्रह्मविद्या का उपदेश करता हुआ उस धारणा का निराकरण करता है।

यजुर्वेद के इस चालीसवें–अध्याय और इशोपनिपद् में चार विषयों की मुख्य चर्चा की गई है वहां

१. पण्डित एवं ब्रह्माण्ड की नियामिका आत्मशक्ति का विवेचन है, दूसरे
२. प्राणी या मानव पतन या दुर्गति के रास्ते पहचाने और उनसे बचे।
३. यह देख कि अभ्युदय या सद्गति का क्या उपाय है ? और
४. अभ्युदय के लिए इस नियामिका आत्मशक्ति से सन्मार्ग एवं कल्याण मार्ग पर चलने के लिए प्रेरणा देने के लिए पूरी विनम्रता और विवेक से हार्दिक प्रार्थना की गई है।

नियामिका आत्मशक्ति का विशद विवेचन

इस ईशोपनिषद् के पांच मन्त्रों में इस पिण्ड–ब्रह्माण्ड के नियामक परम तत्त्व का सूक्ष्म एवं गहन चिन्तन है पहले ही मन्त्र में कहा गया है– यह सारा ब्रह्माण्ड ईश्वर से व्याप्त है। कोई काल और कोई स्थान ऐसा नहीं, जहां वह विद्यमान न हो, इस संसार के अणु–अणु और कण-कण मे उसकी अपार शक्ति और उसके शासन की अनुभूति होती है। सारा संसार गतिशील है। इसको गति देने वाली ऐसी शक्ति होनी चाहिए जो चेतना हो और विवेक क्षमता मे संयुक्त हो उसे सर्वत्र विद्यमान होना चाहिए, वह सबका नियामन सूत्रधार या शासक होना चाहिए। मन्त्र मे कहा गया है।

ईशावास्यमियं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।१।

इस गतिशील संसार मे सब कुछ ईश्वर से–सारे संसार के स्वामी से सब ओर से अच्छादित ढका है और उस संसार के अणु-अणु कण-कण मे वह व्याप्त है। इस परमतत्त्व की व्याख्या करते हुए इस उपनिषद के चौथे मन्त्र मे बतलाया गया है– यह ब्रह्म मन से भी अधिक तीव्रगामी है। क्योंकि जहां मन कल्पना कर पहुंचता है, वहां ब्रह्मशक्ति पहले से विद्यमान होती है, इसे इन्द्रियां रूपी दिव्य शक्तियां प्राप्त नही कर सकती। वह ब्रह्म वहां पहले से ही प्राप्त हो जाता है। यह ब्रह्म गति न करता हुआ दूसरे दौड़ने वालों को पीछे छोड़ देता है। सर्वव्यापक परमात्मा शक्ति (मातरिश्वा) के आश्रय में रहने वाला ज्ञानी अपने अपने सारे विस्तार को सब कर्मो को ब्रह्मार्पण कर देता है—

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्शत् ।
तद्धावतो ऽन्यानत्येति तिष्ठन्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ।।

ब्रह्म अनन्त है, इसलिए जहां-जहां मन जाता है वहां-वहां ब्रह्म पहले से ही विद्यमान और अवस्थित है। उस ब्रह्म का ज्ञान शुद्ध मन से ही होता है, उसे आंख–चक्षु आदि इंद्रियां और अविद्वान् लोग नही देख सकते। वह सर्वत्र अवस्थित रहता हुआ सब प्राणियों को नियम से चलाता है और उन्हें धारण करता है। वह ब्रह्म अति सूक्ष्म और अतीन्द्रिय–इन्द्रियो से अगोचर है, फलतः केवल योगी धर्मपरायण विद्वान् ही उसकी अनुभूति कर सकते है।

मूढ सामान्य मानव समझते हैं कि ब्रह्म चलता है, वह सर्वव्यापक है, फलतः उसमें चलायमान होने की अपेक्षा नहीं, ब्रह्म अयोगियों अधर्मात्मा मूढ़ों से दूर है। परन्तु योगियों धर्मात्मा विद्वानों के समीप है। वह ब्रह्म सब जगत् एवं प्राणियों के अन्दर विराजता हैं। निश्चय से वह इस सम्पूर्ण दृश्यमान एवं अदृश्य ब्रह्माण्ड के बाहर भी विराजमान हैं —

तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥

इस प्रकार वह सर्वस्व के भीतर अन्दर प्रतिष्ठित है, वह दूर से भी दूर है और वह अत्यन्त समीप है। मूढ़ों की दृष्टि में वह ब्रह्म चलता है। परन्तु योगियों और विद्वानों की दृष्टि में अचल है। वह ब्रह्म मूढ़ों से दूर है और योगियो तथा विद्वानो के अत्यन्त समीप है। वह ब्रह्म इस जड़--अचल और चेतन जगत् के अन्दर है और बाहर भी।

इस ईश उपनिषद् में उस नियन्ता पर तत्त्व ईश्वर के स्वरूप का वर्णन इन शब्दों में किया गया है- वह सर्वशक्तिमान् है, वह अकाय शरीर रहित है, फलतः उसे किसी भी प्रकार की क्षति की सम्भावना नही है। वह शिराओं से विहीन शुद्ध, सब प्रकार के पापों से शून्य सर्वज्ञ, मननशील, स्वयम्भू, सर्वनियन्ता है वह सब प्राणियों के संकल्पों एवं मनोकामनाओं को जानने वाला है, वह अनादि काल से समस्त पदार्थों और सम्पूर्ण प्राणियों की यथार्थ व्यवस्था करता है।

स पर्यगाच्छुक्रमकायमब्रणम स्नाविर शुद्धमपाप विद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथा तथ्यतोऽर्थान
व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥८॥

इस मन्त्र में ईश्वर के स्वरूप का उल्लेख इन शब्दों में किया गया है - वह ब्रह्म सर्वत्र व्यापक है, जगत् का उत्पादक है, शरीर रहित है, वह शारीरिक विकारों से शून्य नस और नाडियों के बन्धनों से रहित हैं, वह पवित्र है, पापों से शून्य, सूक्ष्मदर्शी, ज्ञानी, दुष्टों पापियों का तिरस्कार करने वाला स्वयं सिद्ध है, वह अनादि प्रजाओं के लिए ठीक-ठीक कर्मफल का विधमान करता है।

इस प्रकार वह ईश्वर ब्रह्म विभु है, सर्वदेशी है, यह ब्रह्म एक ही है, दूसरा-तीसरा-चौथा आदि नही वह जगत् का मूल कारण है, वह शुद्ध स्वरूप है--उपासको को जल से शरीर, सत्य से मन, विद्या और तप से आत्मा और निर्मल ज्ञान से बुद्धि को पवित्र करना चाहिए, उसी स्थिति मे वे ब्रह्म विद्या के अधिकारी बन सकते है। ईश्वर पापो से शून्य है, मानव को भी निष्पाप बनने के लिए मिथ्या ज्ञान का बहिष्कार चाहिए। भगवान् कवि क्रान्तदर्शी, सर्वद्रष्टा और सर्वज्ञ है, वह परमेश्वर पूर्ण ज्ञानी है, वह स्वयम्भू है किसी की अपेक्षा नही करता, वही सब का फलदाता है, वह सभी प्राणियो के कर्मो के फलो का ठीक-ठीक विधान करना है, उसमे किसी प्रकार के अन्तर या पक्ष-पात की सम्भावना नही है। ऐसे अनन्त शक्तिशाली, अजन्मा, अखण्ड, सदा से मुक्त, न्यायकारी पापरहित, सर्वज्ञ, सबको द्रष्टा, नियन्ता और अनादि स्वरूप वाले परमात्म तत्त्व भगवान् का योगाभ्यास के उपरान्त दर्शन सम्भव है।

२. अध. पतन और दुर्गति के मार्ग की पहचान—

इस उपनिषद् के पांच मन्त्रो मे मानव को सत्परामर्श दिया गया है कि उसे उन मार्गो से बचना चाहिए जो उसे अध. पतन या दुर्गति की ओर ले जाते है—

ईशोपनिषद् के तीसरे मन्त्र मे व्यक्ति को चेतावनी दी गई है कि आत्मा के अनुशासन के विपरीत कार्य करने वाले मरने पर प्रकाश से शून्य अन्धकार से आच्छादित नीतियो को प्राप्त करते है। धर्मशास्त्रकार मनु ने **स्वस्य च प्रियमात्मनः—**आत्म प्रेरणा को धर्म का मूल आधार बतलाया है। उपनिषद् के तत्त्व चिन्तक की सीख है कि चरित्र निर्माण के लिए आत्मा के अनुकूल कार्य करना चाहिए, आत्मा के प्रतिकूल कार्य करने से व्यक्ति अधः पतन या दुर्गति के मार्ग की ओर अग्रसर होना है, इसलिए आत्मा के अनुकूल मन, वाणी और शरीर कार्य करना चाहिए और आत्मा के प्रतिकूल कोई भी कार्य कभी नही करना चाहिए। इस तीसरे मन्त्र मे आत्महनन का फल इन स्पष्ट शब्दो मे कहा गया है—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः।
तांस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जना. ॥

जो कोई आत्मा के विरुद्ध आचरण करने वाले व्यक्ति है, वे मर कर गहरे अंधेरे से आच्छादित-प्रकाश से शून्य योनियो को प्राप्त करते है।

इस प्रकार मानव को परामर्श दिया गया है कि व्यक्ति का आत्मा के अनुकूल मन, वाणी और शरीर से आचरण करना चाहिए, उसे ऐसा कोई भी कार्य नहीं करना चाहिए जो आत्मा की प्रेरणा के प्रतिकूल है। महाभारतकार ने भी अंगीकार किया है– धर्म का सर्वस्व यही है कि आत्मा प्रेरणा के विपरीत कभी आचरण नहीं करना चाहिए।

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्। आत्मनः
प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।

इस उपनिषद् के नौवें मन्त्र में चेतावनी दी गई है कि वे लोग गहरे अन्धकार में जाते हैं जो परमेश्वर को छोड़कर असम्भूति–अनादि, अनुत्पन्न, सत्व रज–तम गुण रूप प्रकृति की ही पूजा करते हैं, इसी के साथ यह भी चेतावनी दी गई जो प्रकृति से उत्पन्न महदादी स्वरूप में परिणत हुई सृष्टि पृथिवी आदि स्थूल जगत् कार्यकारण रूप सूक्ष्म, अनित्य संयोगजन्य कार्य जगत् को पूजा के योग्य मानते हैं और उसमें ही डूबे रहते हैं वे भी अन्धेरे लोक में जाते हैं। अतः सब मनुष्यों को सच्चिदानन्द स्वरूप परमेश्वर की ही सदा उपासना करनी चाहिए। यह मन्त्र इस प्रकार है—

अन्धन्तमः प्रविशन्ति ये ऽसंभूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्यां रताः॥

जो कारण प्रकृति कारण शरीर का सेवन करते हैं वे गहरे अन्धकार में जाते हैं जो कार्य प्राकृत सूक्ष्म शरीर में रमण करते हैं, वे उनसे भी अधिक अन्धेरे में रहते है। दसवां मन्त्र इस प्रकार है—

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात्।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद् विचचक्षिरे॥१०॥

भौतिक पदार्थों की पूजा का फल दूसरा है और प्रकृति की उपासना से दूसरा भिन्न फल–परिणाम दूसरा है हम ज्ञानियों, बुद्धिमानों से सुनते आये हैं—ये ही बुद्धिमान् लोग विस्तारपूर्वक बतलाते आये हैं। प्रत्येक जिज्ञासु या मुमुक्षु का यह गम्भीर उत्तर-दायित्व है कि वे विद्वान् सज्जनों से कार्य–जगत् और कारण की उपासना के फलों को भली प्रकार जाने की चेष्टा करें। विद्वज्जन भी उन्हें ठीक–ठीक ज्ञान कराएं। इसी ईश उपनिषद् में असम्भूति और सम्भूति की ठीक समुचित व्याख्या करने के लिए

दो अन्य शब्दों–अविद्या–विद्या–शब्दों का प्रयोग कर उनके अर्थों को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। इस उपनिषद् के बारहवें मन्त्र में कहा गया है–जो लोग गहरे अन्धकार में प्रवेश करते हैं जो अविद्या की उपासना में संलग्न रहते हैं, परन्तु वे लोग और घने अन्धेरे में प्रवेश करते हैं जो केवल विद्या में ही संलग्न रहते हैं। इस उपनिषद् का बारहवां मन्त्र इस प्रकार है—

अन्धतम प्र विशन्ति ये ऽ विद्यामुपासते।
ततो भूयऽइवते तमो य उ विद्यायां टता: ॥१२॥

जो मनुष्य अनित्य को नित्य अपवित्र को पवित्र, दुःख को सुख अनात्मा को आत्मा जानता है–उसका यह प्रयत्न अविद्या रूप है– अविद्या कर्म की–तप की उपासना करने वाले अन्धेरे में जाते हैं–परन्तु केवल ज्ञान या विद्या में ही संलग्न रहने वाले उससे भी अधिक अन्धेरे में प्रविष्ट हो जाते हैं।

यदि कोई ज्ञानशून्य कर्म कर रहा है तो मानना चाहिए कि उसके मानस में कोई स्वार्थ प्रेरक है और स्वार्थ बन्धन का कारण है। इसी प्रकार कर्म शून्य कोरा ज्ञानी भी केवल समय व्यतीत करने और दूसरों पर प्रभाव डालने के लिए ज्ञान की डींग हांकता है। इस प्रकार जब ये दोनों कर्म और ज्ञान एक दूसरे से किसी प्रकार का सम्बन्ध न रखकर किए जाते हैं–तब उनका प्रभाव और परिणाम पृथक्-पृथक् होना है। अगला तेहरवां मन्त्र इस प्रकार है—

अन्य देवाहु विद्याया अन्यदाहुरविद्याया:।
इति शुश्रुम धीराणां ये न स्तद्विचचक्षिरे ॥१३॥

विद्या–ज्ञान से अन्यत् और फल कहा जाता है और अविद्या–कर्म–तप से और परिणाम कहा जाता है ध्यानियों–ज्ञानियों से यह सीख हम सुनते आए हैं ये ध्यानी ज्ञानी उस रहस्य को भली प्रकार समझाते आये हैं। इस उपनिषद् के पहले चरण में सम्भूति-भौतिक पदार्थों की पूजा का एक फल बतलाया गया है–वही सब कुछ इस अविद्या और विद्या के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए। इस प्रकार न तो केवल कोरे

कर्म पर ही अवलम्बन करना चाहिए और न केवल ज्ञान के ध्यान में ही मगन रहना चाहिए फिर मानव का क्या कर्त्तव्य है यह भी इस उपनिषद् के कर्मफल मन्त्रों में स्पष्ट कर दिया गया है—

उपनिषद् का छठा मन्त्र इस प्रकार है—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न वि चिकित्सति ॥६॥

जो व्यक्ति सब पदार्थों में सर्वव्यापक परमात्मा की अनुभूति करता है और सब पदार्थों में आत्मा–परमात्मा को देखता है, फिर उसे किसी का सन्देह नही होता ।

इस प्रकार आत्मा में देखना सर्वभूत और सब भूतों में देखना आत्मा, ऐसे व्यक्ति को किसी प्रकार की जुगुप्सा निन्दा का अवसर ही नहीं रहता । अगले सातवें मन्त्र में कहा गया है—

यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवा भूद्वि जानतः ।
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनु पश्यतः ॥७॥

जिस अवस्था में–जिस काल में–विज्ञानी के लिए सब पदार्थों पर आत्मा छा जाता है–उस अवस्था में–ऐसी एकता की अनुभूति करने वालो को कैसा मोह और शोक हो सकता है । फिर क्या हो—

मानव का अभ्युदय या सद्गति कैसे हो ?

भारतीय संस्कृति में '**पुरुषार्थ. चतुर्विद्या.**' कहे गये हैं । भारतीय संस्कृति का आधार है धर्म + अर्थ + काम + मोक्ष की चतुः सूची । भारतीय संस्कृति की सीख है धर्मपूर्वक अर्थ का सम्पादन करो, इसी प्रकार धर्मपूर्वक काम का सम्पादन भी अपेक्षित है । अर्थ और काम की प्रासंगिकता और प्रयोजन मर्यादित है । इस उपनिषद् में दो अमर शिक्षाएं दी गई है । दूसरे मन्त्र में कहा गया है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिवीविषेच्छतं समा ।
एव त्वयि नान्यथेतो ऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥२॥

इस उपनिषद् में कर्मयोग की सीख देते हुए कहा गया है इस संसार में कर्मो को करते हुए ही मनुष्य सौ वर्ष जीने की इच्चा करे, इस प्रकार मनुष्य कर्मो के वन्धन में लिप्त नहीं होता, इससे दूसरा कोई उपाय मनुष्य के लिए विद्यमान नही है। भगवद्गीता में इसी मन्त्र की व्याख्या इस प्रकार है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्म फलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्व कर्मणि ॥ गीता २/४६

हे अर्जुन केवल कर्म या युद्ध करने का ही तेरा अधिकार है, कर्मो के फलों में तेरा कोई अधिकार नहीं है। कर्मो का यथायोग्य फल देना प्रभु के हाथ में है। तू कर्म मात्र में अपना अधिकार समझ कर निष्काम होकर कम कर जिससे तू उनके फलो का भला–बुरा फल का हेतु नही बनेगा, दूसरे शब्दों में कर्म फल का उत्तरदायित्व तुझ पर नहीं रहेगा और तुम्हारा कर्म–अकर्म से संग नहीं होना चाहिए। गीता मे ही कहा गया है—**किं कर्म किमकर्मेति कवयो प्यत्र मोहिता.** गीता ८–१६ में कहा गया है–कौन-सा कर्म योग्य है और कौन सा कर्म करने योग्य नहीं है–इस बारे में बड़े–बड़े विद्वान् भी आश्चर्यचकित हैं। इस उपनिषद् म कम करने हुये क्या न करें-कम से कम लालच बिल्कुल न करें-इस बारे में सीख देते हुये पहले मन्त्र मे कहा गया है–

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥१॥

इस मन्त्र के पहले मन्त्रार्ध में हम पहले ही देख आए हैं—इस गतिशील ससार में सब कुछ इस जगन्नियन्ता से आच्छादित है—यदि इस शाश्वत सत्य को हम समझ गए हैं—तो उसका अभ्युदय निःश्रेयस या सद्गति के मार्ग पर चलने के लिए सत्परामर्श है—तू उस स्वामी के दिए हुए का त्यागपूर्वक उपभोग कर। यह धन किसका है—किसी का भी नहीं है, इसलिए तू किसी के धन का लालच मत कर।

आधुनिक आर्थिक समाजवाद की परिभाषा में इस त्यागपूर्वक उपभोग को न्यासी–ट्रस्टी का सिद्धान्त कहा गया है। आपको अपने परिश्रम या विरासत में जो कुछ भी सम्पदा या सम्पत्ति मिली है। उसे कभी अपना मत समझो। यही बात वैदिक संस्कृति में इस प्रकार कही गई है—

शतहस्त समाहर, सहस्रहस्त संकिर ।

आपको सौ हाथों से कमाना चाहिए और सहस्रहस्तों या अनेक विधाओं से उसे समुचित वितरण या विवियोग के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहना चाहिए ।

इसलिए यहां सीख दी गई है–यहां कर्म करते हुए सौ वर्ष की जिजीविषा–जीने की इच्छा रख, धन किसका है–उस पर तू आसक्त मत हो, त्यागते हुए भोगते रहो इसे, इस प्रकार कर्म किए जाओ । इस प्रकार त्यागपूर्वक उपभोग करने का पहला सत्परामर्श है ।

इसी उपनिषद् में सम्भूति–अविनाशशील और असम्भूति विनाशशील की चर्चा की गई है, इसी प्रकार अविद्या कर्म और तप के साथ विद्या ज्ञान की भी विशद चर्चा की गई है तो इन दो मन्त्रों के द्वारा जिज्ञासु को सत्परामर्श दिया गया है । अभी तक प्रकृति और उसके भौतिक पदार्थों में कार्यो के विधातक तक तथा विद्या, ज्ञान और कर्म-तप अविद्या को साथ-साथ जानने तथा उपासना करने की सुखद परिणति की सूचना दी गई है वहां कहा गया है—

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते ।।११।।

जो कोई सम्भूति - कार्य रूप प्रकृति-सूक्ष्म-स्थूल शरीर और विनाश–कारण रूप प्रकृति - कारण शरीर- उन दोनों को साथ–साथ जानता है वह विनाशेन कारण शरीर से मृत्यु को तैर कर सम्भूत्या-कार्यशरीर से अमरता को प्राप्त करता है इस प्रकार अविनाशी और विनाशशील–दोनों को जो साथ-साथ जान लेता है, वह सम्भूति–जिसमें पदार्थ उत्पन्न होते हैं उस कार्यरूप सृष्टि को और सृष्टि के गुण-कर्म-स्वभाव को, जिसमें पदार्थ विनष्ट अदृश्य हो जाते हैं, उस कारण रुप प्रकृति और उसके गुण कर्म स्वभाव को जान लेता है – वह विनाश–असम्भूति के उस मृत्यु, प्रमाद, आलस्य का परित्याग करने के फलस्वरुप उसे तैर कर सम्भूति–शरीर–इन्द्रिय अन्तःकरण रूप उत्पन्न होने वाले धर्म–कर्म में प्रवृत कराने वाली सृष्टि के सहयोग से मोक्ष–सुख को प्राप्त होता है ।

जिम प्रकार केवल कर्म पर ही पूर्ण विश्वास न हो और न केवल ज्ञान के ध्यान में ही मगन होना चाहिए। प्रत्युत दोनों को भली प्रकार जानकर उनका समुचित विनियोग होना चाहिए । यही बात इस उपनिषद् के चौदहवें मन्त्र में अधिक स्पष्ट की गई है—

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ।।१४।।

जो विद्या-ज्ञान को अविद्या-कर्म को उन दोनों को भली प्रकार – साथ–साथ जानता है, उन्हें जानकर तदनुसार आचरण करता है वह कर्म या अविद्या के द्वारा मृत्यु को पार कर विद्या या ज्ञान के द्वारा सच्ची मुक्ति को प्राप्त करता है। इस प्रकरण में अविद्या शब्द का कर्म और तप अर्थ किया गया है। ईश उपनिषद् के इस का अनुवाद मनुस्मृति में इस प्रकार उपलब्ध है —

तपो विद्या च विप्रस्य निः श्रेयसकरं परम् ।
तपसा किल्विषं हन्ति विद्यया ऽमृतमश्नुते ।।मनुस्मृति अध्या ११ १०४

तप और विद्या–विप्र–तपस्वी जिज्ञासु ब्राह्मण के लिए मुक्ति के सर्वश्रेष्ठ साधन है। वह तप से दोषों अपूर्णताओं का नाश करता है और विद्या से मुक्ति प्राप्त करता है । उपनिषद् के मन्त्र में अविद्या शब्द है, मनुस्मृति मे तप शब्द का प्रयोग किया गया है। इसी बात को योगिराज पतञ्जलि ने योगदर्शन के साधनपाद के ४३ वें सूत्र मे निर्दिष्ट किया है—

कायेन्द्रिय सिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः ।।

तप से अशुद्धि या विकारों का नाश होता है तथा इससे शरीर और इन्द्रयों में सिद्धि अर्थात् विशेष सिद्धियां प्राप्त होती है।

निरन्तर ज्ञानपूर्वक कर्म करने से इच्छाओं में कमी होने लगती है, अन्तः करण शुद्ध होने लगता है। जिज्ञासु के अन्तः करण में प्रत्येक पदार्थ–वस्तु की वास्तविकता सामने आ जाती है। जब मानव को इच्छाओं की वास्तविकता उजागर होती है तब

सच्चे ज्ञान की चरम सीमा पर पहुंचकर उसे वैराग्य हो उठता है। सच्चा वैराग्य होते ही उसके अपने पराये की भावना खत्म हो जाती है फलतः राग-द्वेष का अन्त हो जाता है राग-द्वेष ही बन्धन के कारण होते हैं-उनके नष्ट होते ही बन्धनों से छुटकारा मिलता है। इस प्रकार अविद्या और विद्या-दोनों को जो जान लेता है वह कर्म-तप सूची अविद्या-से अपने दोषों-अपूर्णताओं का नाश कर सच्चे ज्ञान की अनुभूति से अपने पराये की भावना खत्म हो जाती है-उसके सब बन्धन छूट जाते हैं-यही उसकी सच्ची मुक्ति है।

अभ्युदय के लिए नियामिका आत्मशक्ति से कल्याण मार्ग की प्रेरणा

जीवन में त्यागपूर्वक उपभोग सम्भव हो, मानव जीवन कर्मयोग पर आधारित हो- जिज्ञासु मानव अविनाशी और विनाशशील का व्यवस्थित ज्ञान करे वह कर्म-तप के साथ ज्ञान-विद्या का समन्वित प्रयोग करे- उसे उनका समुचित सामंजस्य करना चाहिए- वस्तुतः ईश उपनिषद् का यही सन्देश है।

इस सामंजस्य के सन्देश को जीवन में चरितार्थ करने के लिए- उसे सच्चे अभ्युदय की प्राप्ति के लिए सत्यस्वरूप नियामक शक्ति का सच्चा आराधन करना होगा। इसके लिए उसे वस्तुस्थित का ठीक मूल्यांकन करना होगा पन्द्रहवा और इस उपनिषद् का सोलहवां मन्त्र उसे इस मूल्यांकन में सहारा देते हैं—

वायुरनिलममृतमथे भस्मान्तं शरीरम्।
ओ३म् क्रतो स्मर क्लीबे स्मर कृत स्मर ॥१५॥

हे कर्म करने वाले जीवात्मा, इन पंचतापो के विलीन होते ही प्राणवायु अमृतम्- अविनाशी वायु को प्राप्त हो जाएगी और यह दूसरी भस्मान्त-राख मात्र रह जाएगा, अतः हे क्रतो-कर्म करने वाले जीव, तू ओ३म् परमात्मा का स्मरण कर, क्लीबे अपनी न्युनताओं का लेखा-जोखा कर और अपने किए हुए कर्त्तव्यो का वास्तविक आकलन कर जीवन के आखरी क्षणों में उसे याद करना चाहिए-यह शरीर भस्म हो, जीवन वायु

अमर अनिल से तादात्म्य स्थापित करे, क्रतो–कर्मबुद्धि के देवता, मेरे कर्म स्मरण रहें, क्रतो–कर्मशील जीव मेरे सब कर्म स्मरण रहें। ऐसे में उसे भूलना न होगा—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
यो ऽसा वादित्ये पुरुषः सो ऽसावहम्। ओ३म् खं ब्रह्म ॥१६॥

चमकदार ढक्कन से उसका मुख ढका हुआ है, हे प्रकृति के पुत्र! संसार में पूर्ण पुरुष परमात्मा का नाम ओ३म् है। वह खम् आकाश की भांति सर्वव्यापक सर्वत्र विद्यमान ब्रह्म सबसे बड़ा है–श्रेष्ठ है। उपनिषद् में यह भी कहा गया है—

तत्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥

हे पूषन् बलदाता सुवर्ण के पात्र से ढके सत्य धर्म के दर्शन के लिए उस आवरण को हटाना होगा। तभी सत्यस्वरूप भगवान् के सुखदायी स्वरूप को मैं देख सकूंगा।

इस उपनिषद् में सन्देश है कि विनाशशील से मृत्यु पार कर अविनाशी से अमरता कर्म–तप रूपी अविद्या से ज्ञान विद्या के सम्यक् ज्ञान का सामंजस्य त्यागपूर्वक उपभोग के सन्तुलन से सम्भव है। यह उसी समय सम्भव है जब हम हिरण्यम्–चमक-दमक के आवरण को खत्म कर सकें। अन्त में भगवान् से आराधना प्रार्थना की गई है—

अग्ने नय सुपथा राये ऽस्मान्
विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ॥१६॥

हे विद्वान्, सम्पूर्ण कर्मो को जानने वाले अग्नि–अग्रणी–अग्निस्वरूप भगवान्, हमें सुपथ पर प्रवृत्त करें। हमारे प्रतिबन्धक विघ्नकारी पापों का निवारण करें। हम आपको बार–बार नमस्कार करते हैं।

इस संक्षिप्त विश्लेषण से-अध्ययन से यह निष्कर्ष मिलता है यह यजुर्वेद की कण्व शाखा का चालीसवां अध्याय है। इसमें सारे मन्त्र ज्ञान काण्ड के हैं यह ईशोपनिषद्

शेष सारी उपनिषदों का मूल हैं, क्योंकि यह वेद के अन्त में है, इसी कारण इसे बहुत से वेदान्त कहते हैं ब्रह्म सूत्रों में उपनिषदों का विषय ब्रह्मसिद्धि लिया गया, इसलिए यह वेदान्त हुआ। इसे ब्रह्म ज्ञान कीं अन्तिम सीमा भी कहते हैं। ब्रह्म सम्बन्धी वेदमंत्रों और उनकी व्याख्या के कारण भी यह वेदान्त है। यह उपनिषद् ब्रह्मविद्या का मूल होने से ब्रह्मविद्या का भण्डार भी कहा जाता है।

सच्चा जिज्ञासु सत्यस्वरूप परमात्मा के सत्यस्वरूप पर टिके आवरण को हटा कर सर्वभूतों में आत्मा को देखता है, उसके शोक–मोह छूट जाते हैं। वह अविनाशी और विनाशशील को साथ-साथ जानता है, वह सच्चे कर्म और तप से मोह बन्धन को छोड़ कर स्थायी अमरता के पथ पर चलता है, वही सम्पूर्ण कर्मो को जानने वाला भगवान्, पंचतापों के विलीन होने पर प्राणवायु के अमर तत्त्व में एकाकार होने पर वही हमें सुपथ अभ्युदय के मार्ग पर ले जाता है। हमारे कर्म हमें सन्मार्ग की ओर प्रेरित करें इसी के लिए परमदयालु परमात्मा से बार–बार विनम्र निवेदन है।

संस्कृत विभाग

कर्म-रहस्यम्

लेखकः— डॉ. मनुदेवो बन्धुः
एम. ए., पी.-एच. डी., रीडरोऽध्यक्षश्च वेदविभागे
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालयः हरिद्वारम्

अखिले खलु संसारे नानाविधाः जीवाः निवसन्ति। केचन पृथिवीस्थानीयाः, केचन अन्तरिक्षस्थानीयाः, केचन द्युस्थानीयाश्च। अथवा केचन जलचराः, स्थलचराः नभश्चराश्च। सर्वत्रैव वैचित्र्यं दरीदृश्यते। कश्चित् सुखी, कश्चिद् दुःखी, कश्चिद् अक्ष्णा काणः, कश्चित् पादेन खञ्जः, कश्चित् कर्णेन बधिरः कश्चिद् वाचा मूकः, कश्चित् कुरूपः, कश्चित् सुरूपः, कश्चिद् धनी, कश्चिन्निर्धनो वाऽस्ति। इयमपि दृश्यते यत् कश्चिन्मानसिक दुःखेन पीडितोऽस्ति, कश्चिच्छारीरिकदुःखेन पीडितोऽस्ति। एकश्चक्षुष्मान्नपि बुद्धिरहितोऽपरश्च नेत्रहीनोऽपि महाबुद्धिवैभवशाली एकत्र कुक्कुरः धनपतीनां गृहे दुग्धं पिबति, स्वादिष्ठं भोजनं भुङ्क्ते अपरश्च मानवपुत्रः जलमपि न लभते। उदरपूर-भोजनस्य का कथा। एकः सूर्यातपे कठोरश्रमं करोति प्रस्वेदं च प्रवाहयति। परन्तु यथोचितं पारिश्रमिकं न लभते। समुचितमन्नमपि न प्राप्नोति। द्वितीयः बहुधनवान् प्रचुरान्नवांश्च। तस्य गृहे नास्ति खादिता। एकस्य पार्श्वे बहवः पुत्राः सन्ति, द्वितीयस्य च पार्श्वे न कोऽपि पुत्रः अस्मिन् खलु संसारे कश्चिद्भोगी, कश्चिद् रोगी, कश्चिद् योगी चास्ति। अत्र खलु बहवो वादाः विलोक्यन्ते—आस्तिकवादः, नास्तिकवादः कर्मवादः, निष्कर्मवाद, साम्यवादः, समाजवादश्च।

नैतावती विचित्रता। अपितु राजनीतिक दलेष्वपि जनतादलं, भारतीयजनतादलं, कांग्रेसदलं, साम्यदलं, सेवादलञ्चेति। कश्चिन्निराकारं स्तौति, कश्चित् साकारमर्चति। कश्चित् परोपकारे दत्तचितः कश्चित् परद्रव्यहरणे संलग्नः। मन्दिरेषु तीर्थेषु च श्रद्धालवः श्रद्धया भगवन्त पूजयन्ति यथाशक्ति दानं च ददति। परन्तु तत्रैव पण्डाः धूर्ताः लुण्ठकाः पिशाचाः इतस्ततः भ्रमन्तिः ये श्रद्धालूनां द्रव्यमपहरन्ति, तेषां धनं मुष्णन्ति। परिवारेषु भ्राता भ्रात्रे द्वेष्टि स्वसा स्वसे ईर्ष्यति। पतिः पत्न्यै कुप्यति पत्नी च पत्ये असूयति। कश्चित् कान्तासक्तः कश्चित् प्रभुभक्तः। सर्वत्रैव विचित्रता विविधता दरीदृश्यते।

इदं वैचित्र्यं ऋग्वेदोऽपि परिपुष्णाति —

अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनो जवेष्वसमा बभूवुः ।

ऋग्वेदे १०/७१

अर्थात् नेत्राभ्यां कर्णाभ्यां सर्वैः समानास्सन्ति। परन्तु मनोजवेषु मानसिकगतिषु असमानाः विद्यन्ते ।

एतासां सर्वासां समस्यानां समाधानं सांख्यदर्शनं ददाति–"कर्मवैचित्र्यात् सृष्टवैचित्र्यम्" ६/४१ । कर्मसु वैविध्यात् सृष्टौ वैविध्यम् । मानवो यथा कर्म करोति तथैव फलं खादति । पुरुषार्थानुसारेण स उपभोग कुरुते । कर्मानुसारेण सुखी–दुःखी भवति । सदा–सर्वदा–सर्वथा कर्म कार्यम् इममुपदेशं यजुर्वेदः स डिण्डिमघोषं ददाति—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतंसमाः ।
एवं त्वयिनान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

यजुर्वेदे ४०/२

हे मानव ! त्वं शतं वर्षाणि जीवितुमिच्छसि । दीर्घायुर्भूत्वा समग्रं वस्तु जातं चिखादिषसि । अतः कर्माणि कुर्वन्नेव जिजीविषेः संसारे । त्वयि जिजीविषा अस्ति । परन्तु सा जीवितुमिच्छा कर्मपरा-पुरुषार्थपरा स्यात् । आलस्ययुतो न भव। कर्मरहितो न भव । नान्यः पन्थाः विद्यतेऽयनाय । नान्यथेतोऽस्ति । इतोऽन्यथा नास्ति । अस्माद्भिन्नो मार्गो नास्ति । यदि त्वं सकामभावेन कार्यं करोषि तदा कर्मफल भोगार्थं बारं-बारं नानाविधं शरीरं धारयिष्यसि । कदाचिज्जलचरस्य कदाचित् स्थलचरस्य, कदाचिच्च नभश्चरस्य शरीरं धारयिष्यसि । यदा त्वं निष्कामभावेन कार्यं करिष्यसि यथा त्वं कर्म फलस्य फलं त्यक्ष्यसि, तदो त्वं मुक्तो भविष्यसि । तदा त्वं ब्रह्मानन्द सागरे निमग्नो भविष्यसि । सर्वमेतत् कर्मभ्य एव भविष्यति ।

आचार्यः पाणिनिः अष्टाध्यायी–नाम्निपुस्तके कर्तुः परिभाषां परिभाषमाणो लिखति "स्वतन्त्रः कर्ता" । कर्ता कर्म-करणे स्वतन्त्रो भवति । स्वकीयेच्छानुसारेण-स्वरूच्यनुसारेण स कार्यं करोति । स यथाकार्यं करोति तथैव फलं प्राप्नोति । अस्यायमभिप्राय.–कर्ता कर्मकरणे स्वाधीनः परन्तु फलोपभोगे पराधीनः । अस्मिन् प्रसङ्गे कर्माध्यक्षः न

पक्षपातं करोति। अपितु कर्मकर्तुः कर्मानुसारेण केवलं फलं ददाति। जगन्नियन्तुः कर्माध्यक्षस्य इदमेव कर्म यत् स पक्षपातरहितेन उचितमात्रायां तुलायां तोलयित्वा कर्मणां फल कर्मकर्त्रे प्रणिददाति।

वेदेषु कर्म स्वातन्त्र्यविषये बहूक्तम्। स्थाली पुलाकन्यायेन किञ्चित् प्रस्तूयते—

"उत्तिष्ठत संनह्यध्वमुदाः केतुभिः सह।
सर्पा इतरजना रक्षांस्यमित्राननु धावत॥'
अथर्ववेदे ११/१०/१२

हे उदारपुरुषाः! उत्तिष्ठत, ध्वजाभिः सन्नद्धी-भवत। सर्पदंशेषु घातकजन्तुषु आक्राम्यत।

"उत देवा अवहितं देवा उन्नयथा पुनः।
उतागश्चक्रुषं देवा देवा जीवयथा पुनः॥"
अथर्ववेदे ४/१३/१

हे विद्वांसः! अधोगतान् पुरुषान् यूयमुत्थापयत। अपराधिनश्च सन्मार्गे नियोजय।

"उत् क्रामातः पुरुष मावपत्था मृत्यो पड्वीशमवमुञ्चमानः। माच्छित्था अस्माल्लोकादग्नेः सूर्यस्य संदृशः॥ अथर्ववेदे ८/१/४

हे पुरुष! त्वं वर्तमानस्थितेरग्रेसर। मा पत। मृत्युपाशं विछिन्दन् अग्रे गच्छ। सूर्यवत् तेजस्वीभव। सूर्यवत् सर्वेभ्यः प्रकाशं वितर।

'यन्मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति, यद्वाचा वदतितत्कर्मणा करोति, यत्कर्मणा करोतितदभि-सम्पद्यते"। शतपथब्राह्मणे

यथामनसा ध्यानं भवति तथा वाचा वदनं भवति यथा वाचा वदनं भवति तथा कर्मणा करणं भवति। यथा कर्मकरोति तथैव स कर्म-कर्ता अभिसम्पद्यते। कर्म कर्ता यथा संकल्पते यथैवाचरति। यथाऽऽचरति तथैव भवति।

अस्मिन् गभीरतमे नाना विधिविपत्ति-भ्रमिभयंकरे गृहादिग्राहसंकट समाकुले संसार-सागरे नश्वरतामयीं शरीर तरणिं समाश्रित्य मनोरथवृन्देन सह गच्छतो जनस्य वर्त्तते

का शक्तिः पारं यातुम्। तत्र च यदा स निजाभिमानं परित्यज्य ईश्वरार्पणबुद्ध्या पद्-मपत्रवन्निर्लेपः कर्माणि कुरुते तदा भगवतः करुणावरुणालयस्य अनुग्रहेण कुशलकैवर्तक-बलेनैव गच्छति सानुकूलं परं पारम्। किञ्च प्रथमतः एव यदि फले समासक्तिः भवेत् तर्हि कार्यारम्भ—एव फलमात्रनिष्ठो न कर्माणि कुरुते, जाते च दैवात्कर्मभङ्गे महतीं वेदनामनु-भवति। यतोहि यस्मिन् यस्य यादृशी "आशा" वर्ततेतस्य विनाशे तावतीमेव पीडां भुङ्क्ते।

विविधविचार धारापूरितान्तरेषु प्राणिषु प्रायो द्वेधा प्रवृत्ति दृश्यते। तत्र केचिज्जनाः कार्यारम्भं विदधतः प्रथमतः फलमेव विचारयन्ति। इतरे च कर्त्तव्यनिष्टा जनाः सर्व-तोभावेन कर्म कुर्वन्तः समधिगतं फलं स्वीकुर्वन्ति। नहि कार्यारम्भ—मात्रेणैव फलावा-प्तिरिति सार्वत्रिको नियमः। अत एव दैवात् कर्मवैगुण्याद्वा फलाभावे प्रथमकोटिका जनाः महतीं दुःखानुभूतिं कुर्वन्ति। अपरेषाञ्च कर्मसम्पादनपराणां कृते फलप्राप्ति-विरहे न तावान् दुःखानुभवो जायते। ते तु स्वशक्त्यनुसारं कर्मविधानमात्रे स्वाधिकारं मन्यन्ते फलप्राप्तिं तु भगवदधीनां विचारयन्ति। सर्वान्ते इदमेव कर्मरहस्यं यज्ज्ञानपूर्वकं कर्म कुरु। कर्मकरणे त्वं स्वतन्त्रोऽसि फलप्रदाने ईश्वरः परतन्त्रोऽस्तीति दिक्।

वैदिक कर्ममीमांसा

डॉ० दिनेशचन्द्रो धर्ममार्तण्ड:
वेदविभागम:, गु० कां० वि० वि हरिद्वारम्

कर्मविषयोऽतिगहन:। आत्मना सह स्वाभाविकसम्बन्धत्वादस्याङ्गप्रत्यङ्गानि विभावयितुं समस्तपौरस्त्यपाश्चात्य-विपश्चिमा: कृनभूरिश्रमा:।

कर्मसिद्धान्तो भारतीयदर्शनस्याऽऽधारभूत: सिद्धान्त:। लोकायतम्परित्यज्य शेषदर्शनानीमं स्वीचक्रु:। नास्ति कोऽप्येवंविधो भारतीयो दार्शनिक:, येन जगद्-व्याख्या तत्सम्बद्ध-भाष्यव्यवहार विश्लेषणञ्च कर्मराद्धान्तमुपेक्ष्य कृतम्

भारतीयदर्शनानामाधारभून: ऋग्यजु:सामाथर्वात्मिको वेदज्ञानराशि। अतश्चेद्वयं भारतीयदर्शने कर्मविधारणां सम्यक्तयावगन्तुमीमहे तह्यंस्माभिरस्य वैदिक स्वरूपमवगन्तव्यम् यन्नितान्तमावश्यकम्। अयमेवास्माकमस्य लेखस्य विवेच्यविषय:।

ऋग्वेदे एकत्र त्रय: कर्मसम्बन्धिपदार्था एवमुल्लिखितास्सन्ति- 'समानसम्बन्धौ मित्रवद्वर्तमानौ पक्षिणौ (जीवेशौ) समानम् एकम् वृक्षम् (प्रकृतिम्) आश्रयत:, तयोरेक: (जीवात्मा) तत्वृक्षस्य फलं (पापपुण्यजन्यं सुखदु:खात्मकं भोगम्) भुङ्क्ते, अन्य: (परमात्मा) उपभोगमकुर्वन् अभिपश्यति अर्थात् केवलं साक्षाद्द्रष्टा अस्ति[1]।

अस्याशय: स्पष्टो यदिमं प्राकृतिकं जगद्रूपवृक्षमधिष्ठितो जीवात्मा, स्व कर्म्मणा (पुरुषार्थेन) तस्य फलानि खादति, अर्थात् जगतो विविधान् भोगान् उपभुङ्क्ते, परन्तु ईश्वरो जीववज्जगदभुञ्जान: साक्षित्वेन तिष्ठति जीवाय च तस्य कर्मानुसारं फलं ददाति। इत्थं जीव: कर्मकर्त्ता, ईश्वर: फलदाता इदं जगच्च कर्मक्षेत्रम्, यस्मिन् जीवो निजेच्छानुसारं शुभाशुभकर्म्माणि विधाय तेषां फलान्युपभुङ्क्ते। कपिलमुनिरपि वेदकथनमिदमेवं पुष्णाति-'कर्मवैचित्र्यात् सृष्टि वैचित्र्यम्' (सां. द. ६/४१)। अर्थात्, स्वकर्म्मणैव मनुष्य: सुखी दु:खी च भवति, पशुपक्षिणां योनिमधिगच्छति विविधांश्च भोगानुपभुङ्क्ते। जगति यत् किमपि विद्यमान तस्मिश्च यत्किञ्चिदन्तरम् परिलक्ष्यते, नूनं तस्य किमपि पूर्वकृतं कर्म विद्यते[2]।

---

१. द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्य: पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्न्यो अभिचाकशीति॥
(ऋ. १.१६४.२०)

२. संचितप्रारब्धक्रियमाण भेदात् त्रिविधं कर्म॥

कर्मप्रहेलिकामवगन्तुमिदं ज्ञानमावश्यकं यत् यः कर्मकर्ता बध्यते, असौ मनुष्यः कः ? जीवशरीरयोः समुदायो मनुष्यः । जीवात्मा यदा किमपि शरीरमधिगच्छति तदा तस्य समुदायस्य नाम एव मनुष्यो जायते । श्वेताश्वतरो-पनिषद्यप्युदीरितम्-'यद्यच्छरीमादत्ते तेन-तेन स युज्यते' (५/१०) । अर्थात् जीवात्मा कर्मभिः यत् यत् शरीरमुपादत्ते तेन तेन शरीरेण सह युज्यते । 'आत्मा' शब्दस्यार्थ एव सततपुरुषार्थो विद्यते । 'अत सातत्यगमने' धातुना शब्दोऽयन्निष्पद्यते । सततगतिरर्थात् सदा कर्मानुष्ठानमेवात्मनो नैसर्गिको धर्मः ।

स्थूलसूक्ष्मकारणभेदान्मनुष्यस्य शरीरत्रयम् । एषां त्रयाणां सम्बन्धः पञ्चकोषैरप्यस्ति[1] । उभाभ्याम् स्थूलसूक्ष्मशरीराभ्यामेव मनुष्यः कर्माण्यनुतिष्ठति । आत्मा सच्चित्-स्वरूपः तस्य च स्वाभाविकौ गुणौ ज्ञानप्रयत्नौ । एषां गुणानां सार्थकतायै असौ शरीरं विन्दते । शरीरं दशेन्द्रियाणां (पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि + पञ्चकर्मेन्द्रियाणि) समुदायः ज्ञानेन्द्रियाणि ज्ञानगुणान् कर्मेन्द्रियाणि च कर्मगुणान् सार्थयितुं सन्ति । न्यायदर्शना— ३/२/६०)-नुसारं यथा शरीरोत्पत्तिनिमित्तं कर्म तथैव आत्मशरीरसंयोगोत्पत्तिनिमित्तमपि कर्म–'शरीरोत्पत्तिनिमित्तवत् संयोगोत्पत्तिनिमित्तं कर्म ।'

अथर्व० ४ २४.६—दिशा मनुष्यस्याऽऽत्मा कर्माण्यनुष्ठातुं शरीरं धारयति । गीताकठोपनिषदोरनुसारमात्मा इन्द्रियमनो (शरीर) युक्त एव कर्ता भोक्ता च भवति[2] ।

ऋग्वेद (१.१६४.३०)–दिशा जीवोऽनित्यप्रकृतिभावैः (कर्मवासनाभिः) एकस्मात् शरीरान्निर्गत्यान्यस्मिन् वपुषि गच्छति[3] । पूर्वोक्त (ऋ. १.१६४.२०)—मन्त्रानुसारं प्रकृतिर्भोग्या, जीवात्मा भोक्ता, ईश्वरश्च साक्ष्यस्ति । इमे त्रय एव नित्याः ।

यदा जीवः उपर्युक्तवेदमन्त्रानुसारं कर्ता भोक्ता चास्ति, तर्हि पाणिनिनियमानुसारं तेन कर्मणि स्वतन्त्रेण भाव्यम्[4] । अत एव जीवो नित्यत्वेन सह कर्मणि स्वतन्त्रोऽपि

---

१. पञ्चकोषा एवंविधाः—अन्नमयः,प्राणमयः, मनोमयः, विज्ञानमयः आनन्दमयश्च ।

२. द्र—गी० १८.१३,१४,१६ कठोप० ३.४

३. जीवो जन्ममरणरहितस्तथापि वपुषस्तत्सद्भावात् तत्सम्बन्धेनोपचार्यते । ऋ. १.१६४.३०, सायणभाष्य

४. स्वतन्त्रः कर्ता (अष्टा० १.४.५४)

प्रकीर्तितः । वेदेऽप्येवमाख्यातमस्य संसिद्धौ—

सुकृत्योऽसि प्रतिसरोऽसि प्रत्यभिचरणोऽसि ।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥ (अथर्व २.११.२)

हे मनुष्य ! त्वमुत्पादक शक्तिसम्पन्नोऽसि, अग्रेसरोऽसि, त्वं वैरिवारयिता असि । अतस्त्वम् स्वसदृशजनेभ्योऽग्रे गच्छ कल्याणञ्चाप्नुहि ।' नारायण-स्वामिमतानुसारं श्रोता (मनुष्यः) करणाकरणाधिकार-सम्पन्नो भवति, अत एव तस्मै उपदेशो दीयते[1] वेदेषु मनुष्येभ्यः पदे-पदे कर्मविषयकशिक्षा प्रदत्त ऽस्ति, तेषु प्रकीर्तितञ्चापि यद् तत्र मनुष्यः कर्मणि स्वतन्त्र-स्तत्रैव फलभोगे परतन्त्रः । इह कर्मशिक्षादायकेषु तेषु मन्त्रेषु कतिपया-नामुल्लेख इत्थम्—

१. कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।
एव त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥ यजु० ४०.२

२. उत्तिष्ठत सनह्यध्वमुदाराः केतुभिः सह ।
सर्पा इतरजना रक्षांस्यमित्राननुधावत ॥ अथर्व. ११.१०.१२

३. उत देवा अवहितं देवा उन्नयथा पुनः ।
उतागश्चक्रुषं देवा देवा जीवयथा पुनः ॥ अथर्व. ४.१३.१

४. उत्क्रामातः पुरुषमावपत्था मृत्योः षड्वीशमवमुञ्चमानः ।
मा च्छित्था अस्माल्लोकादग्नेः सूर्यस्य संदृशः ॥ अथर्व. ८.१.४

.५ जरदष्टिः कृतवीर्यो विहायाः सहस्रायुः सुकृतश्चरेयम् ॥ अथर्व. १७.१.२७

एषु मन्त्रविधनैकमन्त्रेषु च मनुष्येभ्यः कर्म-शिक्षा प्रदत्ता ऽस्ति[2] । यदा मनुष्याय करणाकरणयो-रुभयोरधिकार आसीत् तदैव तु कर्मप्रेरणा विहिता । यदि मनुष्यः कर्मकरणाय यन्त्रवत् बन्धने भवति तदा ईदृशीणां शिक्षाणां काऽपि उपयोगिता नासीत्, अतः सुस्पष्टं यद् वेदाः कर्मस्वातन्त्र्य- शिक्षां ददति ।

स्वामिदयानन्दानुसारं जीवः स्वकर्त्तव्यकर्मसु स्वतन्त्र ईश-व्यवस्थायाञ्च (फलभो-गादिषु) परतन्त्रः । 'स्वतन्त्रः कर्त्ता' इदं पाणिनीयं सूत्रम्, यः स्वतन्त्रोऽर्थात् स्वाधीनः, स एव कर्त्ता । प्राणेन्द्रियान्तःकरणादीनि यदायत्तानि, सः स्वतन्त्रः । यदि जीवः स्वतन्त्रो

---

१. कर्मरहस्य, हि. अ., पृ० ११
२. कर्मप्रेरककतिपय मन्त्राणामुल्लेखोऽग्रेकर्ममहत्ताप्रकरणेऽपि जातः ।

न स्यात्तर्हि असौ पापपुण्ययो. फलं कदाऽपि प्राप्तुं न शक्नोति, यतोहि यथा भृत्याः (सेवकाः) स्वामिसेनाध्यक्षयो राज्ञया प्रेरणया वा युधि नैकान् पुरुषान् हत्वाऽपराधिनो न भवन्ति, तथैव परमेश्वर-प्रेरणयाऽधीनतया च चेत् कार्याणि सिद्धि यान्ति तर्हि जीवाः पापपुण्यभाजो न भवन्ति[1]।

इत्थं कर्मसिद्धान्तान्तर्गताः कर्मकर्त्त्राधाराः कतिपया एवंविधा वैदिकमान्यताः, यासु भौतिकवादिनः परित्यज्य सर्वे ऐकमत्यं भजन्ते। एवंविधाः कतिपयाः अवधारणा अधोलिखिताः—

१. मनुष्यस्यैको नित्यो भौतिकशरीराच्च पृथगभिमान्यात्मा भवति।
२. अन्यजीवेष्वप्येकमात्मतत्त्वं विद्यते।
३. मनुष्यपशुकीट पतंगादिषु विद्यमानस्यात्मतत्त्वस्यान्यस्मिन् जन्मनि भिन्नयोनिषु

प्रवेशो भवितुं शक्नोति। आत्मा स्वीये बद्धरूपे कर्मकर्त्ता दुःखसोढा च भवति।

कर्म द्रव्येषु चेतनद्रव्यायत्तं भवति। चेतनद्रव्यमात्मा आत्मसम्बद्धं च मनोऽपि, आत्मप्रेरणया साधनरूपेण कर्मकारणमवगम्यते।

सुखदुःखात्मकानि कर्मफलानि, इमान्येव फलानि कथ्यन्तेऽवगम्यन्ते च। अचेतनत्वात् कर्माणि कर्मन्यायानुकूलफलोत्पादने ऽक्षमाणि। एवंविधम् फलन्तु कश्चित् चेतनज्ञानि न्यायिनिष्पक्षविशेषण-विशेषित एव दातुं क्षम अत एव वेदान्तदर्शने वेदानुकूलमाख्यातम् श्रुतिप्रतिपादितत्त्वाज्जीवः फलभोगे नास्ति स्वतन्त्र-'परान्तु तच्छ्रुतेः' (वे० द० २.३.४१)। अर्थात् ईश्वरः फलदाता, असौ जीवानां कर्मानुसारमेव फलं ददाति।

ईश्वरोऽयथार्थतया शुभाशुभं फलं जीवेभ्यो न ददाति, किन्तु ते जीवाः स्व-स्व कर्मानुसारमेव फलं प्राप्नुवन्ति। ईदृश्येव वार्ता वेदे एकस्मिन् स्थले आयाता, यत्र प्रप-ञ्चितमस्ति-ईश्वरः स्व सनातनीभ्योऽनादि-स्वरूपाभ्यः प्रजाभ्यो जीवेभ्यः कर्मफलं यथार्थतया विशेषेण विधत्ते। न कर्मणोऽधिकं न च न्यूनं फलम् मिलति—(याथा-तथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः, यजु० ४०.८)।

---

१. सत्यार्थ प्रकाश, सप्तम समु०।

वेदेष्वेवंविधा अपि संकेता अवाप्यन्ते, यैर्ज्ञायते परेशां कर्मभिरन्येभ्यो लाभालाभौ सुखदु:खे वा उभे एवोपलभ्येते ऋ. १०.१०७.७, ७.३५.४० अथर्व० ८.१.७, ५.३०.४ मन्त्रेष्वीदृशा एव संकेता उपलभ्यन्ते ।

वेदे सुकर्मदुष्कर्मणोरूभयोरेव परिणामानां पृथक्-पृथक् निर्देश: । विषयेऽस्मिन् समागतैर्मन्त्रैरिदम्प्रतीयते यत् सुकर्म्मणां शुभफलं दुष्कर्मणाञ्चाशुभफलं भवति[1] । वेद: सुनियतवाचा वदति यत् सुकृत: लोककल्याणाधारा: । 'विश्वेदेवान् प्रति प्रस्तुते एकस्मिन् सूक्ते ऋषिणा वशिष्ठेनाख्यातम्–पुण्यात्मनां पुण्यानि न: क्षेमकराणि स्यु:[2] ऋग्वेदस्य बहुभिर्मन्त्रैरिदं ज्ञायते यद्देवा: सुकृतै: एवोच्च स्थितिम् प्राप्तवन्त.[3] । अत्र च ऋग्वेदे जीवितं सुकृतक्षेत्रं स्वीकृतमस्ति[4] । इह सम.गत.स्य 'सुकृतस्य लोक' इति पदस्यार्थ: सायणाचार्येण 'कर्मक्षेत्रे भूलोके चे'–ति कृत:[5] । अथर्ववेदेऽपि पदे-पदे सुकृतलोकावाप्ति वर्णनमस्ति[6] अथर्व. ११.८.३३ मन्त्रे कर्मफलानां तिस्र: श्रेण्य: ख्यापिता: । मन्त्रे भणितमस्ति यदीशव्यवस्थानुसारं शरीरेऽव्याहृगतिमान् जीवात्मा कर्मणामेकप्रकारेण मोक्षाख्यं पदमधिगच्छति, कर्मणामेकेन प्रकारेण निम्नयोनिमेकेन च मनुष्ययोनौ सुखानि दु:खानि च सेवते । प्रतीयते प्रश्नोपनिषदि (३.३.७)—'पुण्येन पुण्यं लोकं नयति पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम्' इति तन्मन्त्र-संकेतं गृहीत्वैव कथितम् । कर्मफलानामासां तिसृणां गतीनामाधारेणैव योगदर्शने शुक्लाशुक्ल शुक्लकृष्ण नाम्ना गीतायाञ्च कर्माकर्मविकर्मनाम्ना कर्मभेदा: निर्दिष्टा[7]: ।

---

१. ऋ. १.४७.८, १.६२ ३., १.६१.२०

२. शन्न: सुकृतां सुकृतानि सन्तु, ऋ. ७.३५.४

३. द्र.–ऋ. ३-५४-२, ७-३२-१, १-१८२-१, ६-२०-२, ६-१२-४, १-२५-१०, १०-४६-६, १०-६३-६, १०-१३-४, १०-१७-४ आदि ।

४. ऋ. १०-८५-२४

५. तदेव, सायणभाष्यम् ।

६. द्र. अथर्व. ६-२१-२, १७-१-२७ २०-१७-३

७. कर्माशुक्लाऽकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् ।। यो. द. ४७
कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मण: ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गति: ।। गी० ४.१७

ऋग्वेदाध्ययनेन ज्ञायते सुकृतलोकप्रापयितृकर्मण्येव मनुष्यैः कर्त्तव्यानि तथा दुष्कृतानि निन्द्यान्यकरणीयानि च[1]।

वेदे यत्र सुकर्मजन्यमन्नादिसुखसमृद्धिफलवर्णनम्, तत्रैव विधा अपि अनेके सन्दर्भाः उपलब्धाः, येषु उदितम् यत् दुष्कर्मकर्त्तारः एभ्यः सुखेभ्यो वंचिताः[2]। दुराचारिणः प्रति घृणोक्ता तेषाञ्च विनाशाय देवा अभ्यर्थिताः[3]।

अथर्व ११-६-१६ मन्त्रे दुष्टपुरुषाणामेक-शतमृत्यूनाम् चर्चा समायाता—'मृत्यू-नेकशतं ब्रूमः।' वेदः जन्मनि[4] कर्मफलप्राप्तिं वर्णयति[5]। स्कन्दस्वामिनाऽपि 'उभयाय जन्मने, ऋ. १.३१.७' इत्यस्य अर्थः 'उभयस्मिन् जन्मनि, इह च परत्र चे'-ति कृतः[6]।

अथर्ववेदस्य ६-१०-१० मन्त्रे कर्मफलविषये स्पष्टं कथितम्—'मनुष्यः कर्मानुतिष्ठति परन्त्वसौ तत्फलन्न जानाति। फलदाता तस्मादहग्गोचरः। एवं कर्मजालेन परिवेष्टितो जीवो मुहुर्मुहुः जन्म गृहीत्वा कष्टानि सहते।' अथर्व. १०-५-२२ मन्त्रे कश्चिदस्पष्ट इव सकेतः प्राप्यते यद् वर्षत्रयेऽप्युत्कृष्टकर्मफलन्निम्नकर्मफलं वा नूनमेवावाप्यते। मन्त्रेऽस्मिन् 'त्रैहायना'-दिति शब्दोऽस्य द्योतकः।

स्वामिदयानन्ददृष्ट्याऽपि कर्मफलं वेदमन्त्रैः स्पष्टं प्रमाणितम् तेषां मते कर्मफल-परिणामस्वरूपत्वादेव मनुष्याः मनुष्येतरप्राणिनश्चेह सुखदुःखात्मकान् भोगान् भुञ्जते[7]।

यत् क्रियते तत्कर्म। कृ धातुना औणादिक (४.१४५) मनिन् प्रत्यये कृते सति शब्दोऽयन्निष्पद्यते। 'कर्म' शब्दः चतुर्षु वेदेषु विभिन्नासु विभक्तिष्वनेकशः प्रयुक्तः।

---

१. द्र० ऋ० १-३१-४ १-१५६-५, ६-८३-४
२. ऋ० ७-१०४-६, १०-८६-५
३. ऋ० ६-१६-३२, ५-८३-२, ६ ७-१०४-३
४. उभयाय जन्मने, ऋ. १-३१-७
५. अनेनैवाधारेण लोके कर्मणां संचितप्रारब्धक्रियमाणभेदात् वर्गीकरणं क्रियते इति पूर्वं लिखितम्।
६. द्र०—ऋ० १-३१-७, स्कन्दस्वामी भाष्यम्।
७. द्र० ऋभामू०, पुनर्जन्मविषयः, पृ० २१५, सा० आ० प्र० सभा दिल्ली, सं० २०३६।

केवलं ऋग्वेद एव चत्वरिंशत्कृत्वतोऽधिकम् प्रयुक्तोऽयम् । एतदतिरिक्तम कर्म-सुकर्मादि-रूपेष्वपि प्रयुक्तम् । वैदिककोशनिघण्ठोर्द्वितीयेऽध्याये कर्मण: षड्विंशतिर्नामानि परिगणितानि चेमानि सन्ति—अप: । अप्न: । दंस: । वेष: । वेश विष्ट्वी । व्रतम् । कर्वरम् । शमम । क्रतु: । करणम् । करणानि । करांसि । करन्ति । कृत्रिक्रत् । चक्रत् । कर्त्वम् । कर्त्तो । कर्त्तवे । कृत्वी । धी: । शची । शिमी । शक्ति: । शिल्पम् । इति षड्विंशति: कर्मनामानि ।'

एषु वेदान्तर्गतकर्मनामसु क्रतुशब्दस्य प्रयोग: बहुशो जात: । नैकेषु स्थलेषु सायणस्याचार्योऽपि शब्दममुं कर्मार्थे व्याख्यातवान्[1] । क्वचित् कर्मणोऽर्थोऽस्ति—पराक्रमो वरिकार्यं वा[2] । ऋग्वेदस्य नैकेषु स्थलेष्वस्य धार्मिककृत्यम् (दानयज्ञादि) अस्यार्थोऽस्ति । विस्तारभयादस्मिन् विषयेऽधिकन्न लिख्यते ।

देवानां देवत्वमपि कर्मपरिणतिरिति कतिपयस्थलेषु ऋग्वेद आख्यातम्[3] । सोमदेवताके एकस्मिन् सूक्ते सोम: इन्द्र इव महाकर्मणां कर्त्ता व्याहृत:[4] । कर्मणैव नरो महान् जायते । कर्मपरम्परा च चिरन्तना । सा परम्परा ऽस्म कम्पूर्वै: पितृभिरव्याहतगत्या निरूढा—इति उद्धरणैरेभि: स्पष्टं प्रतीयते[5] ।

अथर्व० ११.८.२ मन्त्रे विवाहेन कर्मोत्पत्ते-रालंकारिकं वर्णनं जातम् । तस्मिन् शंसितं कर्मणोऽभावे किमपि कार्यं कारणात् कार्यं परिवर्तितुं न शक्यते । यथा-धावनं धावकाभावे कदापि पूर्णतां न याति । एवमेव कर्मोत्पत्तये ब्रह्म कर्त्ताऽस्ति इति निश्चितम्, तेन च सर्वप्रथमं सृष्ट्युत्पत्तिकर्म निष्पादितम्—"तपश्चैवास्तां कर्म चान्तर्महत्यर्णवे । त आसन् जन्यास्ते वरा ब्रह्म ज्येष्ठवरोऽभवत ।।" इति मन्त्रानुसारमेव गीतायां 'कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि' (गी० ३.१५) इति निगदितं प्रतीयते ।

---

१. द्र०— ऋ० १.१२.१, १.६१.२, १.१२८.४, २.१२.१, १०.६१.३ सा० मा० ।
२. द्र०—ऋ० १.८२.१६, १.१४८.२
३. ऋ० ३.३६.१, १०,५५.८
४. ऋ० ६.८८.४
५. ऋ० ६.६ ६

वैदिकविचारसरण्यनुसारं यथा मनसा सह सम्बन्धो युज्यते तदेव कर्माभिधीयते [1]। संकल्प-संयुक्ताश्चेतनप्राणिनो यानि कर्माण्यनुतिष्ठन्ति तेष्वेव कर्मसिद्धान्तः प्रवर्तते, अत एवर्षिभिरादिष्टम्-संकल्पः शिवो भवेत्। यत् कर्माशिव-संकल्पप्रेरितं तदशिवं तस्य परिणामश्चापि दुःखदायको भविष्यति। सामाजिकमाध्यात्मिकञ्च कल्याणं सम्पादयितुं शिवसंकल्पेनैव कर्माणि प्रवर्तितव्यम्। अशिवसंकल्पो दुरिष्टिं (अनिष्टं) जनयति। अस्मिन् विषये वेदाः स्पष्टं घोषयन्ति यद्-यज्ञियं नाकमधिरोहणम्, कर्मणः सर्वतो गरीयसी सिद्धिः—'देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे'—(यजु० १.१)।

भगवन्तम्प्रत्यभ्यर्थना विहिता यदसौ सर्वान् श्रेष्ठतमेषु कर्मसु नियोजयेत्, यतोहि भारतीयं दर्शनं विश्वसिति यत् प्रत्येकं नरः स्वीयं कर्मफलं स्वयमेव भोक्तुं कर्मबन्धने बद्धः, अतः असौ ईश्वरं कामयते—'धियो यो नः प्रचोदयादिति'।

कर्म वैदिकसाहित्ये कतिपयस्थलेषु यज्ञरूपेऽप्याख्यातम्, तदा तत्रैवंविधस्थलेषु सर्वत्रैव देवान् प्रत्यभ्यर्थना विहिता-हे ईश्वर! शतवर्ष-पर्यन्तं वयं जीवेम, यावच्च वपुः स्यात् तावत् शुभकर्माण्येव कुर्याम, येन पुनर्जननमप्राप्नुवन्तो मुक्तिं विन्देम।

वैदिकसाहित्ये बहुविधानि कर्म्माण्युल्लिखितानि सन्ति, विशेषतो ब्राह्मणेषूपनिषत्सु च। तत्र नानाविधानि यज्ञयागानुष्ठानादीनि केवलं जीव-कल्याणाय परमात्मानं प्रार्थनात्वेन विधिनिषेधमुखाभ्यामवधारितानि। शतपथब्राह्मणे तु स्पष्टमुक्तम्-यज्ञात् नास्ति किमपि श्रेष्ठतमं कर्म-'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म'—ति।

वेदे 'अग्नि' रित्यस्यार्थोऽपि अस्ति तपोरूपं कर्म। वेदानुसारं कर्म प्रभु-प्राप्तेरत्यावश्यकं साधनम्। 'त्वं हि अग्ने अग्निना विप्रोविप्रेण सन् सता' (ऋ. ८.४३.१४)—

---

१. उत्क्षेपणम्, अवक्षेपणम्, आकुञ्चनम्, प्रसारणम्, गमनञ्चेति क्रियास्सन्ति, यदा आसामासु वा कस्याश्चित् क्रियायाः कर्त्रा सह सम्बन्धो जायते तदा ताः कर्माभिधीयन्ते—'उत्क्षेपणमवक्षेपणम् (वै०द० १.१.७)।

(द्र० नारायणस्वामी, कर्मरहस्य, पृ० ३२, चतुर्थ अध्याय)

इत्यस्मिन् मन्त्रे उदितम्—हे परमप्रकाशस्वरूपप्रभो ! त्वम् अग्निना अर्थात् तपोरूपेण कर्म्मणा प्रदीप्तो भवसि । यथा वैष्णवा: मायाया: जंजाल मत्वा कर्मणे हीनस्थानन्ददति, तथा वेदा. न । वेदास्तु अनानुषङ्गिकत्वेन कर्ममीमांसां कुर्वन्ति । यथा च पूर्वमुल्लिखितमस्माभि:—'कुर्वन्नेवेह कर्माणी'—ति । अर्थात् शतवर्षाणि यावज्जीवितुमिच्छेत् मनुष्य: कर्म्माणि कुर्वन्नेव । कर्मण्यलिप्तस्यैकैव सृतिर्यत् कर्म्माणि कर्त्तव्यं मत्वैव करणीयानि, तेष्वासक्त्या फलाकाङ्क्षया वा न भवितव्यम् । अनेनैव कल्याणम् अवाप्यते । ऋ: ६.७.४ मन्त्रानुसारं 'तव क्रतुभि: अमृतत्वमायन् य: स्वस्मै न, अपितु प्रभो: कृते कर्माणि विधत्ते, स: मोक्षं विन्दते ।

'मानवोन्नतिं कर्माश्रिते'—ति सार्वकालिकोऽयं राद्धान्त: स्वीयं प्रभुमिदमेव प्रार्थयाति-

> इन्द्र क्रतुं न आभर पिता पुत्रेभ्यो यथा ।
> शिक्षा णो अस्मिन् पुरुहूत यामनि,
> जीवा ज्योतिरशीमहि ॥ ऋ. ७.३२.४६

'हे प्रभो ! त्वमस्माकं स्नयूनि कर्म्मणा पूरय, कर्मशिक्षाञ्चास्मभ्यं यच्छ, येन वयं जीवनसंग्रामे जीविता जागरिताश्च सन्तो ज्योति: विन्देम ।' वस्तुत: येषां हस्ते कर्म नास्ति ते जीवने ज्योतिर्नावलोकयन्ति, तांस्तु परित: तम एव परिलक्ष्यते । अत: 'य ईं चकार न सोऽस्य वेद' (ऋ० १.१६४.३२)—मन्त्रे शंसितम् य: स्वकर्मानभिज्ञ: स: जन्ममरणचक्रे पतित्वा घोरतमानि कष्टानि प्राप्नोति । तं सर्वत्र निराशैव दृग्गोचरीभवति । अत एव वेदस्तोता स्वीयं प्रभुं याचते-त्वं कर्म्मणा मामनुप्रीणीहि—'भद्र नो अपि वातय मनो दक्षमुत क्रतुम्' (ऋ० १०.२५.१) । ऐतरेय ब्राह्मणे (१.१५.१) कर्मप्रशंसायां शंसितम्—चरैवेति चरैवेति' ।

वैदिकयुगीना: सततोद्योगै: समृद्धिमन्तो भवितुकामा दृश्यन्ते [1] आत्मसमृद्धये ते देवानाम् सहायतां प्राप्तुकामा. नित्यमेव श्रेष्ठस्तुती रचितवन्त: सहस्रपोष्यताम्प्राप्तुन्तेषां कामनाऽपि श्रमपरायणताम् द्योतयति । कर्मण्यत मधिकृत्यैव तेषां कल्पनासीत् —

---

१. ऋ० १.४८.५-१६

ऋतं सत्यं तपो राष्ट्रं श्रमो धर्मश्च कर्म च ।
भूतं भविष्यदुच्छिष्टे वीर्यं लक्ष्मीर्बलं बले ॥
समृद्धिरोज आकूतिः क्षत्रं राष्ट्रं षडुर्व्यः ॥"
(अथर्व० ११ ७.१७,१८)

जीवनपर्यन्तं ते कर्मण्यशरीरं धारयितुं कामयमानाः प्रार्थितवन्तः—
"यावत् ते ऽभिपश्यामि भूमे सूर्येण मेदिना ।
तावन्मे चक्षुर्मा मेष्टोत्तरामुत्तरां समाम् ॥"
अथर्व० १२.१.३३)

उत्तरोत्तरं वेदेषु उन्नतकर्मसोपानानि वर्णितानि । वैदिकधर्मो मानवं कर्मणि प्रेरयति । देशदेव–देहानां कल्याणाय पुरुषार्थमाचरेत् । तदैव मानवजीवितं सुजीवनं भवितुं शक्नोति, यदा तत् कर्ममयं स्यात् । देवा अपि साहाय्यन्तावन्न कुर्वन्ति, यावत् मनुष्यः स्वयं पुरुषार्थं न करोति । ऋग्वेदेऽप्युदीरितम्—'न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः (ऋ० ४.३३.११) । एतावदेव न, परमात्मनाऽपि तपःप्रयत्नयोरनन्तरमेव जगद्धारणक्षमताऽवाप्ता[1] ।

अथर्व० ७.५२.८ मन्त्रे कथितमस्ति—मे दक्षिणे हस्ते कर्म वामहस्ते च विजयः । अनेन मन्त्रेण स्पष्ट ध्वन्यते यदवश्यभावि कर्मफलम् । मनुष्यो यथा कर्माचरिष्यति तदनुरूपमेव फलं प्राप्स्यति । अत एव पुराणेषु प्रकीर्तितम् –
'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्मशुभाशुभम् ॥'
(देवीभागवत ६.३१.२५, ब्रह्मवैवर्त- कृ०ज० खण्ड ३४)

इत्थमुक्तमन्त्रेषु कर्ममहत्ता तस्य जीवने चापरिहार्यता स्पष्ट रूपेण वर्णिता । यः कर्महीनः स अशु एव विनश्यति, परन्तु यतोहि मनुष्यः कर्महीन–शरीरेण तु भवितुं शक्नोति, परन्तु मानसविचाररूप कर्म्मणा नैव, दूषित–विचाराश्च विनाशमप्रत्युन्मुखीकुर्वन्ति । अत

---

1. द्र०-गो० ब्रा० प्रा० १.१.२ एवं ऋ० १० १९०.१-ऋतं च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत ।

एव वेदेषु अनेकत्र कर्मण्यानां प्रशंसा कर्महीनानाञ्च निन्दा विहिता।[1] येन जगदकर्मण्यानामपितु पुरुषार्थिनां निवासस्थानम् भूत्वाऽधिकाधिकं सुखशान्त्यधिष्ठानं भवेत्।

अथर्ववेद एकत्र कथितम् यत् मनुष्यस्यात्मा कर्मकरणायैव शरीरं धारयति[2]। यद्यपि जीवात्मा कर्मणि स्वतन्त्रस्तथापि तस्मै वेदोपदेशो यत् परमेश्वरात् प्रेरणां प्राप्नुवद् एव कर्त्तव्यकर्माण्याचरेत्[3], निषिद्धकर्म्माणि च परित्यजेत्।

सर्वे उपर्युक्तमन्त्राः कर्मणोऽपरिहार्यतां स्वीकुर्वन्तः स्पष्टं संकेतयन्ति यत् मनुष्येण सततं कर्म समाचरणीयम्, असौ कदाऽपि निष्क्रियो न तिष्ठेत्।

इत्थं वेदेषु कर्मसिद्धान्तस्य क्वचित् प्रत्यक्षत्वेण क्वचिच्चा ऽप्रत्यक्षतयाऽस्पष्टा मीमांसा जाता। येन परवर्तिवैदिकवाङ्मयमेव न, अपितु सम्बद्धं समस्तं पौरस्त्यं पाश्चात्यं च साहित्यमनुप्राणितमस्तीति दिक्।

---

१. अकर्मा दस्युरभि नो अमन्तुरन्यव्रतो अमानुषः।
त्वं तस्यामित्रहन् वधो दासस्य दम्भय॥
(ऋ. १०.२२.८)

इच्छन्ति देवा सुन्वन्तं न स्वप्नाय स्पृहयन्ति।
यन्ति प्रमादमतन्द्राः॥ (ऋ० ८.२.१८)

२. अथर्व० ४.२४ ६

३. अथर्व० ६.२६.३

कर्मसिद्धान्तः व्यक्ति स्वातन्त्र्यं च

डॉ० महावीरः
एम. ए. संस्कृत, वेद, हिन्दी- पी–एच डी., व्याकरणाचार्य
संस्कृत विभागः, गुरुकुल कांगड़ी वि. वि. हरिद्वारम्

'किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्रमोहिताः, गीता ४.१६, डेनमार्क देशीयस्य राजकुमारस्य पितृव्यः राजसिंहासन रूढं स्वभ्रातरं, हैमलेट जनकं राज्यलोभात् जघान, तद्भार्याञ्च बलात् परिणेतुं विवशाञ्चकार, राज्यञ्चापि स्वहस्तगतमकरोत् तदा तस्य हेमलेट नामधेयस्य राजपुत्रस्य मनसि द्वन्द्वोऽयं समुदियाय किमहं पितृहन्तारं पापात्मानं पितृव्यं हत्वा दण्डयेयम् पुत्रधर्मं च पालयेयम् उत मातुः भर्त्तारं रक्षयेयम् इत्थं किंकर्त्तव्यविमूढेन तेन राजकुमारेण श्रीकृष्णसमः न कोऽपि मार्गदर्शकः प्राप्तः, विक्षिप्ततां च गतः अत एव किं कर्त्तव्यं किं च न, मानवः कर्मणि स्वतन्त्रः परतन्त्रो वा इत्येतेप्रश्नाः आविर्भवन्ति ।

कर्मस्वातन्त्र्यं लक्ष्यीकृत्य प्राचीनैः, अर्वाचीनैश्च बहुभिः मनीषिभिः सुविशदं चिन्तितं तत्र भूयान् मतवैभिन्न्यं दरीदृश्यते । विषये ऽस्मिन् भगवती श्रुतिः यां विचारततिं, प्रत्यपादयत् सा समासेन प्रस्तूयते । जीवस्वरूपं प्रतिपादयद्भिः वैदिकैः ऋषिभिः प्रोच्यते चेतनः गतिशीलः स्थिरः अमरः जीवोऽयं एकं शरीरं विहायान्यस्मिन् देहे प्रविशति-

अनच्छये तुरगातु ध्रुवं मध्य आ पस्त्यानाम् ।
जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः ।। ऋग्वेद १.१६४.३०

अन्यत्र काव्यसौन्दर्य परिपूर्णायां शैल्यां निगद्यते-सहनिवसन्तौ शोभनपर्णौ सखायौ समानं वृक्षं संश्रयतः, तयोः ईश्वर–जीवयोरेकः जीवः प्रकृतिपादपस्य फलानि भुङ्क्ते अपरश्च ईश्वरः अभुञ्जानः केवलं साक्षितां भजते— द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते, ।

तयोरन्य. पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति ।। ऋग्. १-१६४.२० अनेन वेदवचनेन जीवात्मनः कर्तृत्वं भोक्तृत्वं च सिद्ध्यति, ततश्च स्वतन्त्रः कर्त्ता इति नियमानुसारं कर्त्रा कर्मणि स्वतन्त्रेण भाव्यमेव । अत एव नित्यः जीवः कर्मणि स्वतन्त्रः

प्रोच्यते । इमं सिद्धान्तं परिपोषयन्ती श्रुतिः निगदति—

हे मानव । त्वं उत्पादयिताऽसि, अग्रेसरोऽसि प्रतिकूलं जिगमिषूणामशाकर्ताऽसि,

ततस्त्वं समानानां पुरोगामी भव कल्याणं चावाप्नुहि—

स्रक्त्योऽसि प्रतिसरोऽसि प्रत्यभि चरणोऽसि ।

आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥ अथर्व० २ ११.२

श्रोतुः कस्मिन्नपि कर्मणि कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुं मधिकारो भवति, अत एव उपदिश्यते । जीवात्मनः विषये पौर्वात्यानां पाश्चात्यानां च विदुषां यानि मतानि तानि इमानि

१. जीवात्मा नित्यः, सत्तावान् कर्मणि स्वतन्त्रः फलावाप्तौ च परतन्त्रः ।

२. न विद्यते जीवात्मनः स्वतन्त्रमस्तित्वम्, ब्रह्म यदा अन्तःकरणस्थायाम् अविद्ययाम् याहि सत्वगुणस्य अशुद्धं रूपं मन्यते प्रतिबिम्बितं जायते सदा उपाधिकारणात् जीवसंज्ञां लभते । अपगतायामविद्यायां जीवस्यास्तित्वं नावशिष्यते ।

३. जीवः संवेदन–इच्छा–कामना-प्रेम–चित्तवृत्तीनां समवाय एव वर्तते तस्यास्तित्वं केवलं नाम–रूपात्मकमेव ।

४. जीवोऽतीतात्मकः केवलम् अनुभव मूलक एव विद्यते

५. जीवः नित्यसत्यस्य आभासमात्रमेव ।

६. इमे जीवाः ईश्वरेणैवोत्पादिताः सन्ति ।

७. जीवात्मा शरीरावयवानां संगतेरेव परिणतिः ।

एतासु सप्तविधोत्प्रेक्षासु द्वितीयायाः उद्भावनायाः प्रवर्तकाः सन्ति जगद्गुरुः शंकराचार्याः । तेषां मते केवलं निर्गुण ब्रह्मैव विशुद्धं तत्त्वं वरिवर्ति तदेव समेषां जीवाना जगतश्च अभिन्ननिमित्तोपादानं कारणम् । शंकरः गीता भाष्ये सिद्धान्तमिममुररीचकार, यत् अभावतः भावः, भावतश्च अभावः नोत्पद्यते इति । यदा हि अस्य प्राकृतिक–जगतः अप्राकृतिक जीवस्य च उपादानं कारण ब्रह्म स्वीक्रियते तद तु ब्रह्मणि प्राकृतिकम् अप्राकृतिकमुभयविधं भवेत् अन्यथा तु अभावतः भावोत्पत्ति. तथा च सिद्धान्तहानिः स्यात् । ब्रह्मणः प्राकृतिकत्वे स्वीकृते सति तस्य निर्गुणत्वं ब्रह्मत्वं चापि अदर्शनतां गच्छेत् । अतो जीव ब्रह्मणोः एकत्वं क्लिष्ट—कल्पनामात्रमेव ।

तृतीयोद्भावना जड़ाद्वैतवादिभिः स्वीक्रियते । तेषां मते प्रकृतिरेव तत्त्वम् न तु आत्मापरमात्मानौ । आविर्भूते मानवे संवेदना, इच्छा, प्रेमप्रभृतयो भावाः तस्मिन् प्रवर्तन्ते । जीवोऽयं संवेदनादीनां समवायश्चेत्, मानवः प्रथममाविर्बभूव, ततश्च चेतनामयो जीवः । इत्थं हि असति चेतनामये जीवे मानवोत्पत्तिः मानवस्य व्यवहारश्चेत् संभवति किं प्रयोजनं चेतनामयेन जीवेन जातेन? अचेतन प्रकृतौ चैतन्योत्पादनं-कथमपि न सभवति।

अन्यैः विचारकैः जीवस्य यद् अनुभवमूलकत्वं प्रतिपाद्यते तदप्यसमीचीनम् । अनुभवः अतीते विहितानि कार्याणि वा जीवोत्पत्तौ कारणानि चेद् स्वीक्रियन्ते तर्हि को नु खलु भूतकाले कर्मकर्त्ता अनुभवप्रापको वा ?

जीवो नित्यसत्तायाः आभासमात्रमिति यत्प्रोच्यते तदप्यसाधु । बाइबिल ग्रन्थे वर्णित जुहोवा एकोनविंशत्यां शताब्द्यां पञ्चत्वं गतः तद्विषये दार्शनिक प्रवरः हीगलः स्वं मतं पोषयितुकामः एकस्याः नित्यसत्तायाः उद्भावनामकरोत् तस्या एव आभासः जीव इति जुघोष । ब्रह्म आतपः जीवश्च छाया इति उपनिषद्यपि प्रतिपाद्यते—

'छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति,—कठोपनिषद् ३.१

प्राचीन मिश्र देशीयाः विद्वांसोऽपि जीवो छाया इत्येव स्वीचक्रिरे । उपनिषदः मिश्र देशीयाः वा जीवं छायारूपं मन्वानाः अपि तस्य स्वतन्त्रां सत्तां न निषेधयामासु. परं महाशयः हीगलः जीवस्य स्वतन्त्रमस्तित्वमेव नोररी करोति, अयमेव दोषः । केवलायां छायायां जीवस्य कार्यसिद्धिर्न संभवति ।

इमे सर्वेऽपि जीवाः परमेश्वरेणैवोत्पादिताः इति या सैमीटिक मतानुयायिनां ईसाई-यहूदीनां कल्पना, साऽपि नोचिता । इमे महानुभावाः जीवोत्पत्तिं मन्वानाः तस्य अनन्त-त्वमपि पोषयन्ति । उत्पन्नस्य आदियुक्तस्य कस्यापि तत्त्वस्य आनन्त्यं कथं संभवति ? जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः इति नियमात् ।

जीवः शरीरावयवानां संगतेरेव परिणामः इति हैकल हक्सले महोदयौ प्रोचतुः । हक्सले महाशयस्तु कालान्तरे स्वमतं परिवर्तितवान् । स ऊचे—नशरीरसंगते: परिणामः जीवः अपितु तस्य रचनाकारणम् ।—' Life is the Cause and not the Consequence of Organisation"

हैकलस्तु स्वां मतिं समर्थयितुमस्याः सप्तदश उद्भावनाः चक्रे। परं चैतन्यं देहे कथम् जायते इति विचारयता तेन स्वीकृतम्—

(क) स्वभिन्नानां प्राणिनां चेतनायाः परीक्षात्मको बोधः न संभवति—

"This we can never have a complete objective certainy of the consciousness of others"

(ख) स्वचेतनायाः परीक्षायां काठिन्यमिदमापतति यच्चेतनायाः परिज्ञानं चैतन्येनैव भवितुमर्हति। इदमेव तस्य वैज्ञानिक परीक्षणे महत् काठिन्यं वर्त्तते।

एवमेतानि सदूषणानि मतानि न स्वीकर्त्तुं शक्यन्ते। प्रथम एव उदारः कल्प। वेदेषु भारतीय दर्शनेषु च बहुधा पल्लवितोऽय पक्षः विस्तारभयेन नेह प्रतन्यते।

'ज्ञातृत्व-कर्त्तृत्व-भोक्तृत्वाणु' इत्येव जीवात्मनो लिङ्गम्।

विवेचिते जीवस्वरूपे वैशेषिकोक्तं कर्मलक्षणमपि बोध्यम्। कणादः वैशेषिकदर्शने प्राह—

'एकद्रव्यमगुणं संयोगवियोगेष्वनपेक्षकारणमिति कर्मलक्षणम्' वैशेषिक १.१.१६ यदेकद्रव्यम गुणरहितं सयोगविभागाभ्यां रहितं च तत्कर्म।

कर्म यदा जायते तदा कमपि संयोगं विभागं वा जनयति। अस्मिन् संयोग विभागोत्पादने यद्यपि कर्म, द्रव्य, पूर्वसंयोगनाशश्च अपेक्षन्ते तथापि तद्द्रव्यं न तु कर्मोत्पत्त्यनन्तरं नापि च पूर्वं जायते यतोहि द्रव्यं नित्यं संयोगस्तु-नाशरूपः। अतः कर्म संयोग विभागाभ्यां निरपेक्षत्वमेव भजते।

उत्क्षेपण अवक्षेपण आकुञ्चन प्रसारण गमनादयः क्रियाः यदा केनापि कर्त्रा संयुज्यन्ते तदैताः कर्म संज्ञां लभन्ते।

कामं पाश्चात्य कोविदः जीवात्मनः कर्मणि पारतन्त्र्यं मेनिरे परं भगवान् वेदस्तु स्वातन्त्र्यमेव स्वीकरोति। कर्मसु स्वातन्त्र्यं फलावाप्तौ च पारतन्त्र्यमुपदिशन्तो वैदिका ऋषयः प्राहुः—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एव त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥ यजुर्वेद ४०।२

उत्तिष्ठत संनह्यध्वमुदाराः केतुभिः सह ।

सर्पा इतरजना रक्षांस्यमित्राननु धावत ॥ अथर्ववेद ११ १०.१२

एवंविधेषु मन्त्रेषु परमेश्वरेण मनुष्याः पुरुषार्थकरणाय बहुशः उपदिश्यन्ते । मानवा कर्मणि स्वतन्त्रः तदैव सः प्रेर्यते यदि सः यन्त्रवत् कर्मणि परतन्त्रः स्यात् कुतः उपदिश्येत ।

भारतीयः दार्शनिका अपि इमां वैदिकी विचारसरणिमेवानुवर्तन्ते । न्यायशास्त्रे शंकैका विवेचिता- ईश्वरः कारणं पुरुषकर्मफल्यदर्शनात् न्याय. ४.१.१९ अयमाशयः- कर्मभिः न किमपि प्रयोजनं, सुख-दुःखादिकं सर्वं परमेश्वरेणैव संप्रदीयते । इमां शंकां निराकुर्वन् गौतमः प्राह-'न पुरुषकर्माभावे फलाऽनिष्पत्तेः न्याय. ४.१.२० पुरुषाणां कर्माभावे फलप्राप्तिः न संभवा, अतः कर्मान्तरैव ईश्वरः सुखदुःखादिकं प्रयच्छति इति न युक्तम् । ईश्वरः कृतकर्मणामेव फलं प्रयच्छति ।

यदा फलप्राप्तौ पारतन्त्र्यं तदा कर्मणि स्वातन्त्र्यं स्वत एव सिद्ध्यति ।

वेदान्तदर्शनेऽपि जीवात्मनः कर्मणां स्वातन्त्र्यं सुस्पष्टं प्रोक्तम् । अयं जीवः स्वेच्छया विहारादिषु क्षमते 'विहारोपदेशात्' वेदान्त २.३.३४

जीवात्मनि उचितमनुचितं वा कर्तुं सामर्थ्यं वर्तते । सः बहुधा आत्मनोऽहितमप्याचरति, यदि तस्य कर्मणि स्वातन्त्र्यं न स्यात् तर्हि विपरीत कर्मसु कथं प्रवर्तेत किमर्थं च श्रुत्यादिषु शुभकर्मणां प्रेरणा प्रदीयेत । एवं जीवात्मन स्वातन्त्र्यमेव सिद्धयति ।

एवं दर्शन उपनिषद् गीतादिषु ग्रन्थेषु बहुशो विवेचितः सप्रमाणं परिपोषितश्चायं सिद्धान्तः ।

दर्शनकाननमृगेन्द्रो दयानन्दोऽपि सत्यार्थप्रकाशे सप्तमोल्लासे जीवात्मनः कर्मस्वातन्त्र्यं सुस्पष्टया गिरा पुपोष । महर्षिः जगाद् -

'शरीर, प्राण, इन्द्रिय, अन्तःकरणादयः यदधीनाः सः जीवः परतन्त्रश्चेत् तस्य पाप पुण्यानां फलं कदापि नोपेयात्, यथा सैनिकाः राजाज्ञया प्रेरणया वा आहवे शत्रून् हत्वा अपराधभाजो न भवन्ति तथैव ईश्वराज्ञया अधीनतया वा सर्वाणि कर्माणि समाचरेरन् चेद् जीवा, पापपुण्ययुक्ताः न भवेयुः । भवन्ति च सर्वे विविध फलभाजः तस्मात् जीवात्मनः कर्मस्वातन्त्र्यमेव सिद्धयति ।

कर्म सिद्धान्तः

लेखक—आचार्य वेदप्रकाश शास्त्री
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष संस्कृत विभाग तथा
डीन प्राच्य विद्यासंकाय गुरुकुल कांगड़ी वि. वि. हरिद्वार,

बहुविध परम्परावाहिनि परिवर्तनशालिनि विशाले संसारे दिने दिने प्रायशो दृश्यते यत् केचिज्जनाः सुखमनुभवन्तो जीवन्ति केचिच्च दुःखेदवदहनदग्धहृदयः प्रतिक्षणं स्वकीयं दुर्भगत्वं निन्दन्तो नरकस्य परां कोटीमाटीकन्ते । मानवानां नहि नहि जीवमात्रस्य सुखदुःखयोर्मूले कर्म तिष्ठति । कर्मानुसारमेव जीवस्य सुखभोक्तृत्वं दुःखभोक्तृत्वं वा सिध्यति । अत एव जीवानां कृते कर्मव्यवस्था गरीयसी दत्ता । लोके द्विविधा जीवा जीवन्ति । एके भोगयोनिमापन्नाः केवलं सुखदुःखे स्वजीवने लभन्ते । अपरे तु सुखदुःखे लभमानास्तथाविधं कर्म कुर्वन्ति यद्बलेन सुखमेवावाप्यते । मनुष्याणां कृत एव कर्म-व्यवस्था दीयते यतो केवलं मनुष्या एव खल्वेकस्यां योनौ पूर्वकृतकर्मानुरूपं सुखं वा दुःखं वा अनुभवन्ति तथाविधं कर्म च कुर्वन्ति येन कर्मणा वर्तमाने कालेऽन्यस्मिन् वा काले भवन्ति सुखभाजो दुःखभाजो वा । वेदादिसच्छास्त्रेषु मानवानां जीवनमुन्नेतुं कर्मव्यवस्थोपदिष्टा । शास्त्रप्रदत्तविधिनिषेध सरणिमनुसृत्यैव मनुष्यैः कर्मणां हानोपा-दानप्रक्रियायां मतिर्विधेया । सुख कामयमानैर्निषिद्धानि कर्माणि त्याज्यानि विधिरूपा-पन्नानि च कर्त्तव्यानि । विधेयं कर्म सुकृतनाम्ना त्याज्यं कर्म च दुष्कृताभिधानेन व्यप-दिश्यते । पुण्यवन्तो भजन्ते सुखं पापवन्तश्च भवन्ति दुःखभाजः ।

लोके प्रायशोविलोक्यते यत् केचन जना वर्तमाने काले कुर्वन्ति सुकृतं परं प्राप्नु-वन्ति दुःखं. केचन दुष्कृत कृत्वापि सुखवृष्ट्याभिषिच्यन्ते । शास्त्रमधिकृत्य विज्ञायते यत् जनाःकृतस्य कर्मणः फलं सत्वरमेव नापितु समायाते काले लभन्ते । यदा कर्मपाको भवति तदैव भवति मनुष्यः फलभाक् । यदि कश्चिन्मनुष्यः पापकर्म सम्पाद्य सुखभाजां श्रेणीमभिश्रितो भवति तदा सः पूर्वकृतस्य पुण्यस्य फलं भुङ्क्ते । साम्प्रतिकम्पादितस्य पापस्य दुःखमयं फलन्तु भविष्ये भोक्ष्यते । एवमेव पुण्यकर्म कृत्वा यदि कश्चिद् दुःखा-तिशयेनाबध्यमात्मानं पश्यति तदासौ पूर्वकृतस्य दुष्कर्मणः एव दुःखमयं फलमश्नुते वर्तमाने विहितस्य शुभकर्मणः सुखमयं फलमन्यस्मिन् समयेप्राप्स्यति सुखस्योत्पादयिता सुकर्म दुःखस्योत्पादयिता च दुष्कर्म भवति । केनापि देवर्षिणा सूक्तिरियमुदीरिता—

'नहि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति"। अतः सिद्धं भवति यत् स्वस्य एव कर्मणः फलं कर्मपाकावस्थायां भोक्त्रा भुज्यते।

लोके ये महान्तः कथ्यन्ते। येषां जीवनं परेषां पुरुषाणां जीवनं प्रभावयति। जनास्तान् भगवानिति कथयन्ति। कर्मविषये तेऽपि कर्मबन्धनाबद्धा एव। यदा तेषां कर्मणां पाकावस्था समायाति तदा तेऽपि कठोरात्कठोरं दुःखमनु भवन्ति। वाल्मीकिरामायणे यदा मर्यादापुरुषोत्तमोरामो भृशं दुःखमनुभवति तदा तन्मुखादुपदेशदामिनी काप्यभिनवा पद्यमयी वाक्यावलिः विनिसृता। यथा—

> पूर्वं मया नूनमभीप्सितानि
> पापानि कर्माण्यसकृत्कृतानि।
> तत्रायमद्य पतितो विपाको
> दुःखेन दुःखं यदहं विशामि॥

महाकविना भर्तृहरिणा स्वजीवने महत्तपस्तप्तं। तपश्चर्यारतेन तेन कर्मविषयमवलम्ब्य महती व्याख्या कृता। कर्मफलं स्वजीवनादपाकर्तुं तेऽपि न क्षमन्ते ये लोके देवाः सन्ति। येषामुपासनां स्वदुःखनाशाय जनाः कुर्वन्ति। ते देवा अपि कर्मणां विबध्यन्ते। येन कर्मणा ब्रह्मणो दुःखं निर्मितं येन कर्मणा विष्णुरपि महासङ्कटे पातितः येन च रुद्रोऽपि दयनीयावस्थां प्रापितस्तस्मै कर्मणे नमः। यथा—

> ब्रह्मा येन कुलालवन्नियमितो ब्रह्माण्डभाण्डोदरे,
> विष्णुर्येनदशावतारगहने क्षिप्तो महासङ्कटे।
> रुद्रो येनकपालपाणिपुटके भिक्षाटनं कारितः,
> सूर्यो भ्राम्यति नित्यमेव गगने तस्मै नमः कर्मणे।

ये जना दुःखकष्टकक्षोधनाय देवमुपासते तानुद्दिश्य सुकर्मदक्षः श्रीमान् भर्तृहरिः कथयति यद्देवा नोपास्याः। यतो हि देवा अपि न स्वातन्त्र्येण किमपि कर्तुमर्हन्ति तान् पदे-पदे विधिरेवप्रशास्ति। विधिरपि कर्मानुसारमेव शासनमादिशति। अतः सर्वं खलु कर्माधीनमेव विद्यते। सर्वजनोपास्यं नूनं कर्म, कर्मणोऽन्यत्र नहि किमप्युपास्यम्। यथा—

नमस्यामो देवान्ननु हतविधेस्तेऽपि वशगा ।
विधिर्वन्द्यः सोऽपि प्रतिनियत कर्मैकफलदः ।।
फलं कर्मायत्तं यदि किममरैः किञ्च विधिना ।
नमस्तत्कर्मभ्यो विधिरपि न येभ्यः प्रभवति ।।

पुंसा कृतं कर्मैव तस्य रक्षां करोति । परमसाधुवृत्त्या कृतं कर्म पुरुषस्य हननमपि करोति । पुमान् यथा यथा पुण्याण्याचरति तथा तथा स रक्षितमिवात्मानं पश्यति । यथा पुण्यं रक्षार्थं पुरुषमनुधावति तथैव दुष्कर्म स्वकर्त्तारं हन्तुमनुधावति । अस्मिन्विषये महाभारतस्यैकं-पद्यं नीतिशतकस्य चैकं पद्यमुदाह्रियते । यथा—

वने रणे शत्रुजलाग्निमध्ये महार्णवे पर्वतमस्तके वा ।
सुप्तं प्रमत्तं विषमस्थितं वा रक्षन्ति पुण्यानि पुराकृतानि ।।
यथा धेनु सहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम् ।
तथा पूर्वकृतं कर्म कर्त्तारमनुगच्छति ।।

कर्मविषये समुदेत्येकः प्रश्नो यत् किं कर्मकरणेपुरुषस्य स्वतंत्रता विद्यते न वा ? अत्र विचारकाणां निगूढतत्त्वपरिशीलनपराणां विदुषां मतमिदमस्ति यत् कर्मकरणेपुरुषस्य पूर्णं स्वातन्त्र्यमस्त्येव । कर्म पुरुषाधीनं विद्यते फलं तु विद्यते दैवाधीनम् । अत एवैक-स्मिन् क्षणे कश्चित्पुरुषः सुविचार्य सुकृतं करोति तथाऽपरस्तु तस्मिन्नेव तमसावृतः सन् दुष्कृतं करोति । यो धिया विचार्य करोति स सत्कर्ता यस्त्वविचार्य करोति स खलु दुष्कर्ता । अस्मिन् विषये श्रीमता प्रज्ञावता महाकविना भर्तृहरिणा कर्मविषये निगूढंतत्त्वमुद्घाटयता ललितं पद्यमुदीरितम्-यथा—

कर्मायत्तं फलं पुंसां बुद्धिः कर्मानुसारिणी ।
तथापि सुधिया भाव्यं सुविचार्यैव कुर्वता ।।

गीतायां भगवता कृष्णदेवेन कर्मविषये कर्मफलविषये च सर्वेऽपि सांसारिका जनाः सम्यग् विबोधिताः । भगवान् कृष्णः पुरुषाणां कर्माधिकारमेव समर्थयति न तु फलाधिकारम् । पुरुषा यत्र स्वातन्त्र्यमर्हन्ति तत्रैव तैः प्रवृत्तिराविष्करणीया । यथा—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफल हेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ।।

वेदेषु स्थाने स्थाने पुरुषमुद्दिश्यादेशोदत्तो भगवता ब्रह्मणा यद् वर्षाणां शतं यावत् पुरुषेण जीवनेच्छा कार्या सा च जीवनेच्छा कर्मसम्पृक्ता भवेत् कर्मविना जीवनं निरर्थकमेव । यथा —

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः । एवं त्वयि ।
नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ।।

कर्मसम्पादनात्प्राक् कर्माकर्मविकर्मणां चिन्तन चित्तवता निश्चितमेव विधेयम् । ये जनाः सूक्ष्मेक्षिकया कर्म तज्जन्य फलं वा विचार्य कर्मणि स्वरूपं विचन्तयन्ति ते शनैः शनैः कर्मबन्धनात्मानाच्छिद्य मुक्तावस्थां लभन्ते । तादृशा जना जीवनमुक्तनाम्ना व्यपदिश्यन्ते । यथा गीतायां भगवता कृष्णेनात्मविचारः सञ्चारितः—

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न बध्यते ।।

यद्यपीदं कथनं नूनं सत्यमञ्चति यत् कर्माकर्मविषये क्रान्तदर्शिनः सम्मर्षिणः कवयोऽपि विमोहावृतमतयो दृश्यन्ते । अत एव कविभिरपि किञ्चिदेवाकर्म क्रियते दुखञ्च लभ्यते । गीतायां सत्यमेव विदुषां पठनीय पद्यमिदं दृश्यते यथा—

"किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः" ।

लोके विलोक्यते यदेको जनः शास्त्रप्रतिपादितं शुभङ्करं कर्म करोति परं फलास्वादकालेऽसौ दुष्कृतोद् भाव्यं दुःखमश्नुते । अस्यायं विद्यतेऽभि प्रायो यत्तेन कर्मकर्त्रा पुरुषेण स्वधिया तु सत्कर्म कृतं परं वस्तुतः कृतस्य कर्मणः स्वरूपं कर्मविरुद्धमासीत । अत एव क्वचित् करोति विप्रतिषिध्यं कर्म लभते च सत्कर्मजन्यमानन्दम् । गीताया मस्मिन् विषये सुचिन्तनरम्यः सद्विचारः प्राप्यते-यथा—

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ।।
कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ।।

मुक्तावस्थायां जीवस्य कर्मक्षयो भवति परं ततः प्राक् कर्मावस्था सम्यक् प्रसरति । मुक्तावस्थायाः प्राक् कर्म विषयक ज्ञानं नितरामपेक्ष्यते । शास्त्रेषु त्रिधा कर्म कथ्यते

मनसा मन्वान: पुमान् मानसिकं कर्म करोति, वाचा वदन् वाचिकं कर्म करोति, देहेन किमपि कुर्वन् दैहिकं कर्म करोति। जीवो येन साधनेन कर्म करोति तत्फलं तेनैव साधनेन भुङ्क्ते। अत एव मनुना सम्यगुदीरितम्—

मानसं मनसैवायमुप भुङ्क्ते शुभाशुभम्।
वाचा वाचाकृतं कर्म कायेनैव च कायिकम्॥

फलभुक्तिं विना न शाम्यति कर्म। यदि कर्मकरणे वयं विहितरुचयस्तर्हि कर्मफल भोगेऽपि कृतरुचय: स्याम। वेदे कर्म विषये सर्वजनपठनीयो माननीयश्च मन्त्रो दृश्यते तदनुसारमेव कर्मणि रुचिर्विनिश्चेतव्या सत्कर्मविद्भि:।

न किल्बिषमत्र नाधारो अस्ति,
न यन्मित्रै: सममान एति
अनूनं निहितं पात्रं न एतत्
पक्तार पक्व: पुनराविशाति॥
(अथर्ववेद)

योगदर्शनानुसारिणी कर्मफलव्यवस्था

वेदाचार्यो डॉ० रघुवीरो वेदालंकार
दिल्लीस्थे रामजसमहाविद्यालये प्राध्यापकः

कर्मविषये कर्मफलविषये च भारतीयैर्मनीषिभिर्बहु चिन्तितम् । योगदर्शने पतंजलि मुनिना तद्भाष्यकृता च व्यासदेवेनास्मिन् विषये गम्भीरो विचारः प्रस्तुतः । अत्र खलु विचारणा (१)कतिविधानि कर्माणिकतिविधञ्च तेषां फलम् (२)केवलमात्मा एव कर्मफलभोक्ता उताहोऽन्योऽपि तस्य सहयोगी कश्चित् । (३) कर्मफलमस्मिन्नेव जन्मनि प्राप्यते अथवा परजन्मन्यपि । (४) इह जन्मनि च तत् कर्मफलं कथं केन प्रकारेण प्राप्यते ।

अविद्यादिक्लेशमूलक एव कर्माशयः फलप्रदाता न तूच्छिन्नक्लेशमूल इति योगसूत्रकारः । अन्य च कर्मसमूहोऽस्मिन् जन्मनि पर जन्मनि च कर्मफलप्रदाता । (१) अस्य व्याख्यायामाह व्यासदेवः—तीव्र संवेगेन मन्त्रतपस्यासमाधिभिः सचितः ईश्वर देवतामहर्षिणामाराधनया वा सचितः पुण्यः कर्माशयोऽस्मिन्नेव जन्मनि फलं प्रयच्छति । एवमेव तीव्रक्लेशभीतान् प्रति, व्याधिग्रस्तान् प्रति, दीनान् प्रति, विश्वस्तान् प्रति तपस्विनः प्रति च पौनः पुन्येन कृतोऽपकार एव पापरूपी कर्माशयः । अयमप्यस्मिन्ने जन्मनि सद्यः एव परिपच्यते ।(२) भाष्यकृता अत्र नन्दीश्वरनहुषदृष्टान्तेन स्व पक्षः परिपोषितः ।[3]

इदंचात्र स्पष्टीक्रियते भाष्यकारेण यन्नारकीयाः पापाः प्राणिनः परजन्मन्ये स्वकर्मफलं भुंजते न त्वस्मिन् जन्मनि । क्षीणक्लेशा योगिनस्तु परजन्मनि कर्मफलं न प्राप्नुवन्ति यतोहि दग्धक्लेशाना तेषां परजन्म भवत्येव न । इह जन्मन्येव तेषां कर्मभोगः समाप्यते ।

१— क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः (यो०सू० २.१२ व्यासभाष्यम् ।

२— यो० सू० २.१२ व्यास भाष्यम् ।

३— तदैव–यथा नन्दीश्वरः कुमारो मनुष्यपरिणामं हित्वा देवत्वेन परिणतः । तथा नहुषोऽपि देवानमिन्द्रः स्वकं परिणामं हित्वातिर्यक्त्वेन परिणत इति ।

अयञ्च कर्माशयोऽविद्यादिषु क्लेशेषु सत्सु एव फलप्रदाता न तु नष्टेषुक्लेशेषु ।[1] प्रकारद्वयमस्ति क्लेशान् दूरी कर्तुम् । क्रियायोगेन तान् सूक्ष्मावस्थां प्रापयित्वा इति प्रथमः । प्रसंख्यानाग्निना क्लेशानां बीजभावमेव नष्टीकृत्येति द्वितीयः प्रकारः । यथा सतुषाः, अदग्ध बीजभावाश्च तण्डुलकणाः प्रसवसमर्था न तु दग्ध बीजभावा अपनीततुषा वा, तथैव क्लेशसहितः प्रसंख्यानाग्निना चादग्धबीज भाव एव कर्माशयः फलमुत्पादयितुमलं नान्यथा ।[2] भगवद्गीतायामपि विचार एव कृतः । इयं खलु ब्राह्मी स्थितिः, यां प्राप्यास्मिन्नेव जन्मनि सुकृतदुष्कृते विहाय[3], कर्मजं फलं त्यक्त्वा मनीषिणो ऽमृतत्वं प्राप्नुवन्ति जन्मबन्धमुक्ताश्च भवन्ति ।[4]

सत्सु क्लेशेषु कर्माशयस्त्रिधा फलं प्रयच्छति जात्यायुर्भोगरूपेण । मनुष्याः, पशवः, पक्षिणः, कीटाश्च समानप्रसवा[5] एवात्र जातिपदवाच्या न तु मनुष्येषु प्रचलिता आधुनिका जातयः । पूर्वकृत कर्मानुसारमेव जीवो मनुष्यपशुपक्षिसरीसृपादीनां विभिन्नां जाति प्राप्नोति। आयुरपि पूर्वजन्मकृतकर्मानुसारमेव प्राप्यते । द्विधा खल्वस्य व्याख्या–मनुष्य–पशु–कीटादीनां जातीनामायुः पूर्वकर्मानुसारं निश्चित भवति । यथा–मनुष्यजातिः शतवर्षीया, पशुषु केचन शतवर्षीयाः, कुक्कुटादयस्तु केवलं त्रिंशति वर्षीया इत्यादि । जीवाः पूर्वकर्मानुसारं पृथक् पृथक् जातिं प्राप्य तज्जात्यै निर्धारितमायुरपि प्राप्नुवन्ति इति प्रथमः कल्पः । यद्येवं, कुतो न सर्वे मनुष्या वर्षशतं जीवन्ति इति प्रश्नः । शतवर्षीया खलु मनुष्यजातिः । अस्य समाधानम्—सर्वेषां जीवानामायुः पूर्वकर्मानुसारं पृथक् पृथक् निश्चितं भवति । अतः सर्वैः स्व स्व कर्मानुसारं विभिन्नमायुः प्राप्यते न तु जात्यनुसारं समानम् । अत्र पुनः प्रश्नः—यदि प्रत्येकस्य जीवस्यायुरपि सुनिश्चितं

१— सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगः (यो०सू० २.१३)

२— क्लेशावनद्धः कर्माशयो विपाकप्ररोही भवति, नापनीत क्लेशो न प्रसंख्यान दग्धक्लेशबीजभावो वा (यो०सू० २.१३ व्यास भाष्यम्)

३— बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते (भग०गी० २.५०)

४— कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ।। (तत्रैव २.५१)

५— समानप्रसवात्मिका जातिः (न्या० सू०)

सुनिश्चितं वर्त्तते तर्हि तस्य हन्तुः को दोषः ? कस्यापि जीवस्यायुः सुनिश्चितं ततः पूर्व स न मरिष्यति, आयुः समाप्तौ तु तस्य मरणं निश्चितमेव तदा स स्वयमेव रोगादिना म्रियते, तमन्यो वा कश्चिद् घातयेदिति नास्ति घातकस्य दोषः। घातकेन तु केवलं तन्मृत्योः साहाय्यमेव क्रियते। अस्य समाधानम्–यद्यपि प्रत्येकस्य जीवस्यायुः पूर्वकर्मानुसारं सुनिश्चितम्। कर्मानुसारमेव भोगान् भुक्त्वा स ईश्वरीयव्यवस्थया रोगादिना स्वयमेव मरिष्यति। ईश्वरीयव्यवस्थामुल्लङ्घ्य तन्मारणे नास्ति घातकस्याधिकारः।

भोग.— पूर्वकर्मानुसारमेव जीवाः पृथक् भोगान् प्राप्नुवन्ति। अत एव केचन सुखिनः केचन दुःखिनः, केचन विकलवा उत्पद्यन्ते। उत्पद्य च जीवनेऽपि नाना सुखदुःखानि तैरनुभूयन्ते। अत प्रश्नः— यदि पूर्वकर्मानुसारं सुखदुःखव्यवस्था सुनिश्चिता तर्हि को लाभः कस्यापि सहायतया, परोपकारेण, चिकित्सादिना च स्वास्थ्यप्रदानेन। स्व पूर्वकृत कर्मानुसारं स स्वयमेव सुखं दुःखं वा प्राप्नोति। साम्यवादिनोऽनीश्वरवादिनश्च सांसारिकी सामाजिकी राजनीतिकी व्यवस्थामेव जीवानां सुखदुःखकारणं–स्वीकुर्वन्ति। अस्य समाधानम्–सामाजिकी राजनीतिकीं व्यवस्थां प्राप्यापि जीवा इतोऽनिश्चितं सुखदुःखं प्राप्नुवन्ति, तत् पूर्वकर्मानु-सारमेवानु मन्तव्यम्।

एवमिदं सिद्धं यद्यद्यपि जात्यायु र्भोगाः पूर्वकर्मानुसारमेव प्राप्यन्ते तथापि वर्त्तमान कर्मानुसारं सामाजिकी राजनीतिकी व्यवस्थानुसारं वा तेषु वृद्धिह्रासौ कर्तुं शक्यते। यथा–देवानामिन्द्रो नहुष ऋषीन् प्रत्यपराधकारणे न तैः शापितः सन् स्वीयां–मनुष्यजातिं हित्वा तिर्यक्त्वेन परिणत इति जातिह्रासः एवमेव नन्दीश्वरः कुमारो मनुष्यपरिणामं हित्वा देवत्वेन परिणत इति जात्युत्कर्षः।[1] एवमेव मनुष्यस्य शतवर्षीयमायुः, तन्निर्धारितान् भोगांश्च प्राप्य यदि कश्चिद् वर्त्तमानजन्मकृतदुष्कृ–तानुरूपं राजकीयव्यवस्थानुसारं बन्धादिकं प्राप्नोति तदाऽऽयुरपि तस्य क्षीयते तन्निर्धारिता भोगाश्च समाप्तिं यान्ति।

---

१. दृष्टजन्म वेदनीयस्त्वेक विपाकारम्भी भोग हेतुत्वाद् हि–विपाकारम्भी वा भोगायु–हेतुत्वान्नदीश्वर नहुषवत् (यो–सू–२/१३ व्यास भाष्यम)।

अत्रापरः प्रश्नः—पूर्वकर्मानुसारमायुः भोगांश्च प्राप्य जीवस्तदायु र्भोगांश्चान्यस्मै कस्मैश्चिद् दातुं प्रभवति न वा? अत्र सुप्रसिद्धैतिहासिकी घटना—बाबरपुत्रो हुमायू रुग्णोऽभवत्। रुग्णे पुत्रे बाबरः प्रभुं प्रार्थयासास–मदायुर्मत्पुत्राय देहीति। एवं हि कथ्यते यत् तदनन्तरमेव शनैः शनैर्हुमायुः स्वास्थ्यं लेभे, बाबरश्च रुग्णः सन् मृत्युं समालिलिङ्ग। प्राचीने साहित्ये ऽपि श्रूयते यत् ययातिर्भोगासक्तः सन् स्व पुत्रस्यायुः प्राप्तवान्।

अपरा विचारणा–पूर्वेषां समेषां जन्मनां कर्माशयः समुदितः सन् एकमेव जन्म करोतीत्येकभविकोऽयं कर्माशयः। वासनास्तु प्रत्येकस्मिन् जन्मनि वृद्धि यान्तीत्यनेक भवपूर्विका वासनाः। योऽयमेकभविकः कर्माशयः सोऽनियतविपाको नियतविपाकश्च। नियतविपाकः कर्माशयोऽस्मिन्नेव जन्मनि जात्यायुर्भोगप्रदाता। अनियतविपाकस्य तु त्रयी गतिः। (१) विनाशः (२) प्रधानकर्मण्यावापगमनम् (३) विपाकप्रधानकर्मणाऽभिभूतस्य वा चिरमवस्थानम्। शुक्लकर्मोदयादिहैव कृष्णकर्मणां नाशो भवतीति प्रथमा। यदि कृष्णकर्मणः नाशो न भवति तदा प्रधाने शुक्ले कर्मणि मिलित्वा तत् कृष्णकर्म स्वल्पमेव दोषं समुत्पादयतीति द्वितीया। प्रधानकर्मणाऽभिभूतं वा कृष्णकर्म चिरमवतिष्ठति, अभिव्यंजकं तु समासाद्य फलोन्मुखि भवतीति, तृतीया गतिः। लोकेऽप्येवं दृश्यते—क्षीणक्लेशास्तपोधना योगिनो धार्मिकाश्चापि कदापि कदापि स्वल्पं कष्टमनुभवन्ति। ससह्यवेदनं तत् कष्टं भवतीतीदमेव प्रधानकर्मण्यावापगमनं कृष्णस्य। तथा च सुकृतदुष्कृते कृत्वाऽपि कदापि कदापि व्यक्तिस्तदैव तत्फलं न प्राप्नोति, किन्तु फलाभिव्यजके तत्त्वे सति सुखं वा दुःखं वाऽनु भवतीतीदं पूर्वकृतस्य सुकृतस्य दुष्कृतस्यैव फलं तद् भवतीति तृतीया गतिः।

इदमप्यत्र चिन्तनीयम्—कर्म स्वयमेव फलमुत्पादयति, कश्चिदन्यो वा कर्मफलप्रदानं करोति? कर्म स्वयमेव फलं प्रयच्छतीति शास्त्रवचनम्। परमेश्वरस्तु कर्मफलव्यस्थापकः। तस्य व्यवस्थायां कर्म स्वयमेव शुभाशुभं फलं प्रसूते। महाभारते दृष्टान्ते स्पष्टीकृतम् यद्यथा धेनुसहस्रेष्वपि वत्साः स्वां स्वामेव मातरमनुयान्ति तथैव पूर्वकृतं कर्म तत्कर्त्तारं प्राप्नोति।[1] कश्च कर्मफलभागित्यपि न्यायदर्शने सुविचारितम्। न मनः, न चेन्द्रियाणि कर्मफलं प्राप्नुवन्ति आत्मा एव कर्मफलभोक्ता इति सिद्धान्तः।

१— यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम्।
तथा पूर्वकृतं कर्म कर्त्तारमनु गच्छति॥ महाभारतम्॥

अत्रापरः प्रश्नः समुदेति–राजकीयव्यवस्थया वा यदि कश्चिज्जनः स्व सुकृतस्य दुष्कृतस्य वा फलं स्वल्पमधिकं वाऽनुभवति तदेश्वरीयव्यवस्थयाऽपि पुनः स तत्फलमश्नुते न वा ? यदि नाश्नुते तदेयं विप्रतिपत्तिः— इह लोके तु राजनियमा अपि विचित्रास्तेषां दण्डा विचित्राः। मद्यपाः, मांसाहारी च जनः शासनव्यवस्थायां निर्दोषो भवति। अत एव वधशालायां वधिकैरहर्निश प्राणिनो घात्यन्ते, सर्वकार स्वीकृत मद्यशालासु च मद्यविक्रयो भवति। एते मद्यपाः मांसाहारिणश्च परजन्मनि ईश्वरीयव्यवस्थया दुष्कृतस्य फलं प्राप्स्यन्ति न वा ? तथा च – एकं मनुष्यं घातयतु, सहस्रान् वा विंशतिवर्षाय कारागारे निक्षिप्यते अपराधी। तथा यदा कदा आत्मसमर्पण कर्त्तृभ्यश्चौरेभ्यः, लुण्ठकेभ्यः, घातकेभ्यः शासनेन क्षमादान मपिदीयते। यथा— नैक मनुष्यघातिका फूलनदेवी समयात् पूर्वमेव कारागारात् बहिः कृता, लोकनायक-जयप्रकाश माध्यमेन च चम्वलवासीनां डाकूनामात्मसमर्पणाभियानं चालितं आसीत्। एते सर्वे परमेश्वर व्यवस्थया पुनः परजन्मनि स्वकर्मणः फलं प्राप्स्यन्ति न वा ? यदि न, अयं खलु सुकरः पन्था पापमोचनस्य। परसहस्रान् अपराधान् कृत्वा स्वल्पो राजकीयो दण्डो भोग्यः। यदि पुनरपि परजन्मनि ते दण्डं प्राप्स्यन्ति तदाऽत्रत्यदण्डो व्यर्थ एवेति सर्वथा राजदण्डः परिहर्त्तव्यः। परमेश्वरः दुष्कृद्भ्यः शासनप्रदत्तं दण्डं मीमांस्य पुनः स्वयं दण्डनिर्धारणं करिष्यतीति तृतीयो विकल्पः। कः साधुरिति न जाने, कर्मगतिर्विचित्रा दुर्विज्ञाना चेति।

क्लेशमूलोऽयं कर्माशयोऽचिन्तनीयानि दुर्विज्ञेयानि नैकानि फलानीह जन्मनि परजन्मनि च प्रसूते। धर्ममेघसमाधिनाऽयं सर्वप्रकारस्य कर्माशयस्तद्वीजभूता अविद्यादयः पञ्चक्लेशाः सर्वथा नाशं यान्तीति पतञ्जलिमतम्।[1] ततश्च नष्टकर्माशयो नष्टक्लेशश्च मानवोऽस्मिन्नेव जन्मनि मुक्तो भूत्वा जीवन्मुक्त उच्यत इति व्यासदेवः।[2] मुक्तस्य पुनर्जन्म न वेत्यत्रास्ति मतवैभिन्यम्। वीतरागस्य जन्म नास्तीति न्यायसूत्रकारः।[3] दीर्घकालपर्यन्तं मुक्तिसुखमनुभूय मानवः पुनरपि संसारे जन्म प्राप्नोतीति दयानन्दः। शुभकर्मफलं मुक्तिः। अस्ति चात्र कार्यकारणसम्वन्धः। असति कारणे कार्याभाव इति न्यायसिद्धान्तः। अतो न मुक्तिः शाश्वतीति सुतर्को दयानन्दस्य। अस्ति चात्र प्रमाणम्-क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्तीति।

१— ततः क्लेशकर्म निवृत्तिः (यो०सू० ४.३०)
२— व्यास भाष्यम्–क्लेशकर्मनिवृत्तौ जीवन्नेव विद्वान् मुक्तो भवति।
३— वीतराग जन्मादर्शनात् (न्या० सू० ३.२५)

ENGLISH DEPARTMENT

LOGICAL JUSTIFICATION OF THE THEORY OF KARMA

Dr. S.R. Bhatt
Univ. of Delhi

1. Historical importance :

The present paper aims at an analysis of the theory of Karma which has for centuries excercised an unmitigated and pervasive influence on the mode of thinking and the way of living, both at the connelona and the submtancloun level of the people of Indian sub-continent. Though it has been generally resorted to by laymen a nd intellectuals a like, and particulaily in situations of trials and tribulations much succour and solace has been claimed to have me been realised by appealing to it, it has at the same been often misunderstood and maligned. It is therefore intended here (a) to pinpoint what precisely is the problem of which it aims at providing an answer (b) to put it at its best and examine how far it can be a satisfactory answer, and (c) to see whether it can be rationally tenable and if not so, what can be its substitute The account delineated here is not so much historical or exegetical as it is philosophical presenting it in a form which may be logically most coherent and tenable

2. Statement of the problem of which Karma-theory is an answer :

One of the most disturbing riddles concerning human existence in particular and that of all living beings in general is the alarming diversity of living conditions and the inevitable presence of evil and suffering in the life of every individual. In different cultural traditions attempts have been made to solve this riddle by taking the help of various hypothesis like play of satan disobedience of divine ordinance etc. One of the solutions put forth, and generally

accepted, in the Indian culture is the Karma theory. According to it every action that stems from volition inevitably results in its retribution for the agent It attempts to explain both (a) why the agent acts as he does, i e, in good or evil way, and (b) why certain happenings occur to an individual, particularly why evil befalls an innocent.

3. Karma-theory not acceptable to Lokayatas :

It must bemade clear that Inspite of its general acceptance the Karma-theory has not been spared of challenges particularly by the Lokay at as who deny any basic distinction between matter and living organism and regard all forms of life as just spontaneous configuration of matter and thus contend that there is no need to postulate Karma as the formative principle of organisms.

4. Presuppositions of Karma-theory

The theory of Karma is put forth in a specific conceptual framework outside which its tenability and acceptabillity may not be unquestionable. There seem to be two main presuppositions of it with the rejection of any one of which this theory falls The first one is presumption of an order on casual pattern operating in the entire universe regulating all occurrences. Every event depands upon some necessary and inevitable casual conditions and in the case of the activities of the moral agent these events along with their consequences are necessarily bound up with the agent.

Another presupposition is the belief in the existence of an individual self as a free and responsible agent to whom retribution of Karma has to be aportioned Freedom of will which is implicit in the notion of moral responsibil.ty is to be regarded as an intrinsic

character of the moral agent whose rationel actions are necessarily preceded by an exercise of free choice. In the absence of a free choice the agent may not be entitled for the attribution of the consequences which may issue forth from the performance of an action.

5 Stement of Karma-theory :

There has been wide divergance in developing this idea of Karma into a caherent theory and in the course of history many different, sometimes conflicting, statements have been made. In its, concrete totality it has been a very complex phenomsnon, both historically and systematically. It has functioned at various levels of understanding and interpretations, as an unquestioned presupposition as well as explicit theory in popular belief as well as in philosophical thought. The indian mind has developed remarkably sophisticated ways of dealing with such differences of strata, as it does not hold assumptions in the same way at different levels. In its various conxts and applications it has three basically different functions and dimensions as below

i) Karma is a principle of casuai explanation of factual occurrences, involving ane life or many lives, based on a belief that necestarlly the present circumstances are to be accounted for with reference to previous actions, including actions prior to birth.

ii) Karma is quideline of ethical orientation based on a bellef that good or bad actions lead to certain results in one life or several lives, and

iii) Karma is believed to be a counterpart of and stepping stone to final liberation.

The main thesis and contention of the theory of Karma can be best understood in the cohtext of the relation between volition and

action in a moral situation. To start with a distinction has to be drawn between an action which stems from valition and an action which is involuntary like the instinctive one It seems that the theory of Karma does not bring involuntary activities under its perview because such actions do not cause any binding influence upon the agent as they do not result from an exercise of free will which alone entails moral responsibility.

The above distinction and the conclusion of the involuntary activities from the perview of this theory become necessary because there is at least one type of situation which would otherwise remain unexplained If every action without exception is supposed. to be resulting in retribution and since instinctive actions are natural and inevitable to empirical living, this would imply non-cessation of the series of birth and death with the result that there would be no possibility of maksa/nirvana because even those who are at the verge of getting moksa/nirvana would not be able to get rid of Karmas like breathing etc and the consequent retribution which is possible only in a continued worldly existence.

In such a situation Karma and moksa/nirvana can not be concomitant, since either should be complete cessation of all actions and then moksa/nirvana or in the event of non-cessation of actions there will be no possibility of moksa/nirvana. It is perhaps because of this paradoxical situation the proponents of this theory draw a distinction between those karmas which call for retribution and such others the performance of which does not recoil upon the agent in the least. Such Karmas according to the Gita are those which are performed without any attachment to or regard for the consequences. The performance of karma with an unattached state of mind means that such actions are unmotivated and unitended. In our ordinary empirical behaviour we always

undertake an activity stemindfrom empirical motives and aiming at some desired results. Thus we are bound as much by the motives as by the results of action. The Gita by the advocacy of Karma yoga/niskama karma enjoins us to perform actions in such a way that they are in no way affected by empirical motivations and considerations of consequences. We have to perform actions and there is no escape from it because by our psychophysical conditions we are destined to act. There is no choice available to us between proformance of an action and abstinence from such a performance. But we have a choice of acting with attachment or without attachment The Gita says that by performing action without being attached to it one can get rid of its binding influence. There in alone lies freedom. Thus the theory of karma can be better understood if it is viewed in the light of the theory of niskama karma.

6. Implication of Karma-theory :

The theory of karma maintains that the whole world is subjcct to the same kind of uniform law. It recognises the rule of law both within and outside, in inner life as in out ward nature. Every action accordingly produces its effect in the physical world but also causes certain impressions in the inner self of the agent These impressions in evitably determine the futute mode of existance of the agent. One can not escaqe them Any attempt to do so is as futile as trying to leap over one's own shadow The present placement of an individual in a particular social situation and the association of a particular type of psychophysical complex with it is all solely due to the past karmas of that individual The past actions determine our present state of existence and our present actions would in turn determine our future state of existence.

This implication of the karma theory has been much mispnerstood and maligned and therefore needs to be put in its proper perspective. Overlooking the distinction between actively pursued human action (purusakera) and passively received fate (daiva) some people mistake it as a theory of complete determinism. But fate is different from facticity. While advoceting 'facticity' this theory views man as a free agent who is the sole determiner of one's action and is therefore morally responsible for that.

7 Possible defence of Karma-theory :

The theory of Karma has sometimes been mistaken for fatallem by ita votaries, as also by its critics. But, if rightly understood, it is neither a denial of human freedom nor discouragement for moral efforts. It does not regard the stock of past Karmas as a dead weight lying on the shoulders of man hindering his work and implying complete pre-determination as to what the individual will do. On the contrary, it views the individual as a free agent not only having a capacity to distinguish between right and wrong but also having a capacity of free choice Every individual has the right to work and he is free in doing so But he is bound by its consequences. Thus it links freedom with responsibility.

Before we conclude let us discuss another issue which is of great theoretical importance. It can be questioned as to what is the ground or justification for upholding this theory. In ther words, what sorts of evidences can be adduced in favour of this theory. Before this question is answered some other queatians have to be considered firat. It has to be initially decided whether the theory of Karmna is a scientific theory or a metaphysical theory. If it is taken to be a metaphysical theory, is the demand for cmpirical evidence

relevant for the validation of this theory and further will it not remain a viable theory even if faced with irrefutable counter evidence Karl potter points out that empirical evidence is really not relevant after all. for all its scars and patches. the theory survives healthily in the face of all the facts. Leon Festinger survives that a psychologicall useful theory is not discarded where its predictions fail to actualise. it merely results in cognitive dissonance. It seems that it is not possible to give any final and decisive judgement on this theory on the basis of availability or non-availability of evidences Its acceptance or rejection depends upon acceptance or rejection of its underlying presuppositions.

The Buddhist Doctrine of Karma

Hari Shankar Prasad

Department of Philosophy,

University of Delhi

The doctrine of Karma is one of the central themes of Buddhism It has metaphysical, epistemological, ethical, religious, cultural and social implications, so much so that all kinds of activity, becoming, happening, creativity and temporal processes are denoted by the word 'karma', Karmas can broadly be classified into two groups :

(1) All those karmas in which agency of any kind, human or nonh-uman, is absent. I call such karma karma-without-agency. Under this category comes the dynamic nature of reality, a necessary factor for developing the Buddhist world-view, according to which man as well as the world (sansara) is epistemic manifestation of such reality. All this is a contingent matter. This kind of karma is essential and blind, for example, the internal bodily processes, the causal efficiency (e g , burning) of fire, etc

(2) All those karmas in which agency of a sentient being is involved But here I shall focus on human agency only. I call such karma karma by-human-agency which is the basis of the popular doctrine of karma and its retribution (vipaka). This kind of karma is essentially ethical and causal in nature, and morally praiseworthly or blameworthy.

The understanding of karma-without-agency, I think, is a prerequisite of the understanding of karma-by-human-agency. In that case, I am supposed to explain, albeit. in brief the whole evoluiton and devolution of the phenomenon according to Buddhism. For this purpose, I am taking the philosophic paradigm of the idealistic school of Buddhism, the Yogacara-Vijnanavada, according to which

the whole phenomenal show is attributed to the functioning of consciousness (citta-vrtti).

The relevant issues which the concept of karma anticipatcs for comprehensive treatment are :

(1) Nature of essential reality which constitules man end his world.

(2) Nature and purpose of karma-by-human-agency and other activities.

(3) Spatio-temporal continuity of man's body in the present life and that of his mind (citta—consciousness) in the three times: past, present and future, so that his personal identity is maintained in some specific sense, which is at the base of the issue of his survival after death.

(4) The memory criterion to prove man's personal identity.

(5) Causal explanation and continuity of his karma and its retribution.

(6) The process of transformation of karma into phala.

(7) Man's exercise of his free will in doing actions so as to assign responsibility for his own actions.

(8) Types of karma and types of phala.

The scope of present study is mainly confined to the Yogacara Vijnanavada school of Buddhism. But I shall also survey in brief the earlier discussions of karma in Pali sources and the Sanskrit Abhidharma. In early Buddhism, the duality of mind (citta) and

matter (rupa) is maintained, but in the Yogacara-Vijnanavada, matter is explained away (?) and the sole ontological reality of citta is established. In Yogacara-Vijnanavada, itself there is a gradual shift from the ontological plurality (or individuality) of citta-s to the one uuiversal citta. In the former, each person-based individual citta has its own world (samsara) in which it periorms deeds and bears the responsibility for the same, and accordingly experiences pleasure and pain. Its actions may even bring to it liberatin (nirvana), which is its summum, bonum, from worldly sufferings In the latter development, the universal citta (cf. cittamatrata, vijnaptimatrata, vijnanamatrata and prajnapatimatrata) is propounded on the basis of the clvmination of the epistemological anlysis of illusory experiences]as discussed in the Vimsatika of Vasubandhu.

After a sketchy discussio of the paradigmatic features of the Yogacara-Vijnanavada without touching upon the his torical issues of its divergent thought developments, I shall take up selected passages of the Buddhist texts and interpret them so as to address myself to the issues raised above.

The basic ascumption of the Yogacara-Vijnanvada is that citta is essentially of creative nature, This is in accordance with the gencral Buddhist view of reality as ever dynamic. The Buddhist sources are replete with such references, The citta in its original state, even if creative by nature remains in its apparently latent form. Somehow at some stage, there is a stir in it. The cause of this first stage of evolution is not discussed in any Buddhist text. It is only said that this kind of inherent potency is beginningless or atemporai (anadikala) in the sense that it is impossible to think

of a state in which citta is without potency Once the evolution begins, other forces generated by its activit'es; such as epistemic appearances of objective phenomena, keep accumulating in it. Then it becomes the womb of the whole phenomena (samsara) It is also called the seed of everything and is therefore a receptacle of all kinds of vijnanas (of. sarvabljakam alayavijnanam). 1

Since citta is ever dynamic, its forms or states are in perpetual flux like the waves of ocean (udadhitaranga) In this sense it is momentary (ksanika). But its essence is eternal (nitya) which is the substratum of these wave-like changes. This citta is the principle of phenomenal reality In other words, the cause of all kinds of evolution (—samsarapravrtti) is citta. Once the functioning of the citta (cittavrtti) has started. it is aaid that it has its relation with all the three time epochs : past, present and future, corresponding to its quiesent. actualised and potential states respectively. Because of the forces generated by its past activities (atitakarmayasana) it continues its present actlvities, which produce similar forces (vasana) to take it to the future ones. Thus the Phenomenal process keeps going, till there is a deliberate and systematic attempt by man at degenerating the kamavasana to achieve a state of tranquillity (nirvana) which is also a state of bliss (sukha). This explains the causal link between any two states of citta. The so-called original citta free from all activities is an explanatory presupposition based on speculation As a matter of fact, the starting point of the who'e philosophic enterprise in Yogacra-Vijnanavada is alayavijnana which is taken "as the basic principle of pollution (samklesa), as the seat or sum of Badness (dausthulya), and . as constituting, or having the aature of it, ultlmate unsatisfactoriness (samskaraduhkhata) or the Truth of Sulfcting (duhkha wrtva).

The most important issue in the present studs is : How do the activities of alayavijnana become an issue of ethical concern. Prima facie they appear to be mechanical and non-human. But the Yogacara-Vijnanavada shows thet the karma-by-human- agency is the root cause of the whole functioning of the alaya-vijnana. The issue is not merely individual, but it has social implications also. It ie in this sense that an individual is responsiole for his actions which are good (kusala). bad (klista or akusala) or indeterminate (avyahrta), The activities mature according to their respective nature in the individual alaya-vijnanas, which in turn regulate the individual conducts. In this sense, alayavijnana is nothing but accumulation of the forces resulting from the maturation of phala (vipakasamgrhtta).

In the Yogacara-Vijnanavada, there is a clear tendency of shift from the plurality of individual alayavijnanas to the oneness and universality of the alayavijnana leading to idealistic absolutism. Another tendency of shift is from the duality of matter (rupa) and mind [citta[to monism of consciousness. In this scheme. an individual is assimilalated into the Absolute. On the contray, the individality and plvrality of alayavijnana makes a man responsible for his karma. and he is thus inspired and motivated to regenerate or transform himself by carving out the path for his spiritual growth. In this way, he rises above the phenomenal evils (dausthulya). This is reflected in the spiritual career of an Arhat. who has suspended the activrties of his alayavijnana from generating evil forces (vasana) any more. This he has achieved by practising spiritual virtues (kusalakarma). The Arhat's case shows the individual's freedom of action.

Further. an icdividual's reason, belief. desire and purpose are motivations of moral actions. All these elements are person-based

and thus internal to man himself. These factors determine the type and course of action he wants to perform. Moreover man has certain control over these factors. for he is free to train/culture his mind and interpret a particular situation in such a way that his existing belief, desire, etc. change radically. In this sense, he has control over these elements and freedom in exereising his choice of action. But in certain cases. where there is external force, for example, when somebody is attacking him, or in the case of internal bodily mechanism, which are beyond his control, he is not free to act according tg his own desire. He has no other option but to undergo these activities.

A careful analysis of human circumstances shows that it is very difficult to conceive of a situation when man has complete freedom of choosing his actions. In each case where we say that a man is free to take a decision, there are some factors like desire, reason, belief, etc which influence his so-called freedom of choice and are thus determining factors. But in the same case, it is very much possible for him to change his mind and thus the very rationale on certain other grounds in choosing another type of action instead. This kind of freedom with some kind of determinism is deterministic freedom where man has freedom to change the very determining factors of his freedom (ef cittena ciyate karmah)[3] This means absolute freedom is not possible. It is always related to certain conditions.

An important point in exercising our freedom is the correct understanding (samyegjyana) of the nature of action, its means, its ethical consequences and social implications. Thus right cognition of things is a necessary condition for the realisation of values (cf. samyagjnayapurvika purusarthasiddhih—Nyayabindu, I I).

In Yogacara - Vijnanavada, evolution of citta (—vijnanaparinama) is broadly classified into two categories, viz, subjectivity (atman) and objectivity (dharma). The source of this duality is our alayavijnana. All sorts of our behaviour—mental, bodily and linguistic—are guided by this apparent duality. The subjectivity of citta and its logical implications establish Absolutism in which oneness and universality of citta is maintained by explaining away the ontological plurality of mind and matter, and their manifestations. This makes it impossible to account for the responsibility of actions performed by man whose individuality is explained away together with the phenomenal plurality

In Buddhism, an individual is a cluster of pyscho-physical organism (pancaskandha) possessing both mind [citta] and body [rupa]. For any karma phala process in an ethical sense, one's personal identity, one's continuity in the present life with the same mind and body and one's continuity from the past life when one's body was different, and the same in the future when one will have a different body, have to be maintained. The continuity with regard to one's body in spatio-temporal terms is established only in one's present life-span The ethical doctrine of karma demands that an individual continues during one's transition from one time-epoch to another and since a body cannot maintain continuity in this respect, the only explanation left with us is that it is mind or consciousness [citta] which retains its continuity. The memory criterion of personal identity also can be explained in terms of citta. This means that an individual which is construed in terms of pure consciousness can be said to survive after the death of one's body [cf janmantara-pravrtti].

The Buddhist theory that the past karmas mature in the present and the present ones in the future explains the suffering or happy life of a person in the present for which, to the best of one's knowledge, one has not done any karma. The fact of inequality among human beings is also explained on this line. It is needless to say that the karma doctrine shows that it is not at ali necessary to posit the existence of God. The Buddhist karmic discipline aims at incu'cating highest univeral moral values on secular lines. A Bodhisattva is, thus, motivated to doing actions for the welfare of others, maintaining total passivity towards one's own interest This is one's social morality, which is an ideal to be pursued by every individual in order to make the world worth living.

A Buddhist will generally subscribe to a karma theory which endorses retributive justice and assignment of responsibility to the agent. He opposes any kind of fate (niyati, vidhi) theory, according to which a man is not responsible for his action, rather he is simply a puppet in the hands of external determining factors. The postulation of the theories of samsara and rebirth (punarbhava, janmantara punarjanma) by the Buddhists are logically consistent with their theory of karma and karma-phala. In this direction. the Buddhist doctrine of the transference of merit (parinamana) as seen in the case of a Bodhisattva is the climax of the Buddhist moral and spiritual discipline Although this doctrine seems to be logically inapprop iate, psychologically it is a great inspiring force towards creating social harmony and mutual concern among human beings.

It is not my purpose here to give an elaborate, exposition of all sorts of evolution (parinama) or functioning (karma, vrtti) of citta or vijnana. I have only tried to show the place of the indi-

vidual in the phi'osophic scheme of Yogacara-Vijnanavada. I have argued that the doctrine of karma requires a consistent theory of knowledge, ontology and ethics. When a Bodhisattva performs karma with a view to eradicating the suffering of one's fellow beings (jagadduhkhaparitranaya) one is gutded by these theories in that very act one is elevated to the highest level of consciousness

The following textual paseages from Pali as well as Buddhist Sanskrit sources and their interpretaiions throw light on the issues involved in the preceding discussion,

(1) The Buddha, in his sermons, talks of the ethicall consequencss of ons's actions. Man's present condition, such as being inferior or superior. beaut ful or ugly, and of good or bad nature, is attributed to one's past actions.

The correlation between one's moral and immoral actions on the one hand, and one's experience of pleasure and pain spanning throughout the three time-epochs is discussed by the Buddha. Again, the cause of human condition is said to be one's own Karmas,' unethical Karma reaps an unhappy life and ethical Karma reaps a happy life:

so dibbena cakkhuna visuddheua atikkanta-manusakena satte passati cayamane upapajjamane, htne panite suvanne dubbanne sugate duggate yatha-kammupage satte pajanati; "ime vata bhonto satta kaya-duccaritena samanaagata vaci-duccaritena samannagata mano-duccaritena samannagata ariyanam upavadaka miccha-ditthika mlaeha-ditthi-kammasamadana. te kayassabheda param marana apayam duggatim vinipatam nirayam upapanna. ime va pana bhonto satta kaya-sucarifena samannagata

vact-sucaritena samannagata mano-sucaritena samannagata ariy-anam anupavadaka samma-ditthikasammaditthi-kamma-samadana te kayassa bheda param maraya sugatinm saggam upapanna it."
—Dighanikaya, I p. 82.22-38 (P.T S edition)

(2) The causal correation between one's actions—mental, bodily and lin and linguistic—and the results of their maturation is called the lew of karma (pali Kamma). This assigns the responsibility of an action to the agent hims f. Therefore. every human deing is ebvised by the Buddha to reflect upon this inexorable law:

kammassako mhi kammadayado kammayoni kammabandhu kammapatisarano, yam kammam karissami kalyanam vapapakam va, tassa dayado bhavissami ti abhinham paccavekkhitabbam itthiya va purisena va gahatthena va pabbajitena va.—Ariguttaranikaya, III, p 72.1-6 (P.T.S. edition)

(3) Here the Buddhist assumption is that karma and its result are casually correlated. There is no relenting of this relationship. This explains the inequality among human beings in all respects, their differing psychological, biological, economic and social conditions; that is, karma makes a man low-class or high-class according to its nature :

kammassaka, manava, satta kammadayada kammayoni kammabandhu kammapatisarana, kammam satte vibhajati yadidam hinappanitatavati.
—Majjhimanikaya III, p. 203.4-6. (P.T.S. edition)

(4) Further, the law of karma also explains the present human condition for which one thinks one is not responsible, simply because one does not remember or know that one did anything in

the past which has brought about this present condition. The ethical argument of the Buddhists is that in such cases the rational explanation is that the person's present condition is because of one's past karmas. But the epistemological question in this connection is : How do we know that the person had his life in the past, has survived in the present ard will survive in the future also after one's death ? The only answer the Buddhists give is that the Buddha himself perceived through his clairvoyant vision (dibbacakkhu) the whole process of man's existence in the past, one's actions and their consequent maturation, and one's survival in the present. One can develop one's own clairvoyant vision (dibbacakkhu) and see the whole karma-phala process oneself :

sattanam cutuppato bhikkhave cakkhuna sacchikarniyo.

—Ariguttaranikaya II p 183. 11. (P.T.S. editian)

(5) We may not believe the Buddhist account of the karma-phala process and the Buddha's possessing clairvoyant vision (dibbacakkhu), but it has certainly ethical bearings on man and his social order. Some philosophers may regard these issues as transcendental and thus meaningless or nonsensical, but for the Buddhists they are not worthless and unimportant. It is here that they transcend the extreme form of rationality. They frmly balieve that the efficacy of karma never fails to produce results :

na hi nassati kassaci kammam
eti ha tam labhat eva suvami
dukkham mando paraloke
attani passati kibbisakari.

Suttanipata Gatha 666. p. 128.11-14 (P.T.S edition)

(6) The Buddhist categorisation of human beings is done in two ways: One, the basis of their Karmas as found in the early

sources and the other on the basis of the levels of their spirituality (gotra) as found in the Mahayana sources (cf. The Uttaratlantra of Maitreya) [5] These two factors are not exclusive-They are found together. The only difference between them is that the early Buddhism lays maximum emphasis on the individual moralaction, while the Mahayana on the spiritual growh of man in general. In the latter, the perfection in moral virtues such as dana maitri, karuna and mudita, and the extension of the field of karma universally is demonstrated in the Bodhisattva's activities towards the eradication of human suffering (jagadduhkhaparitrana). All this practically possible. This shows that morality is not trascendental or a meaningless enterprise. However, a Bodhisattva is not interested in purposeless speculative metaphysical thinking.

The Buddhists primarily aim at the cultivation and promotion of the culture of mind, which is enilghtened (bodhicita) and shows concern for the welfare of human beings Such a mind is prerequisite for all our conduct—mental, bodily and speech. The human agent is free to choose and act (karma) in the sense that one can have control over one's volitional capers, such as desire, urge and motivation, which are technically called cetana. Cetana is said to be the root cause of behaviour (karma) in general That is why the Buddhists define karma as cetana.

> cetana ham bhikkhave kammam vadami cetayitva kammam karoti kayena vacaya manasa.
>
> Anguttaranikava III, P. 415 7-8 (P. T S edition)

(7) If our volitional capers are not controlled and guided according to our moral needs. they will generate our behaviour in such a way that there will be widespread perpetuation of evils:

imesam kho aham tapassi tinnam kammanam evam pativibhattanam evam pativisitthanam manokammam mahasavajjataram pannapemi papassa kammassa kiriyaya papassa kammassa pavattiya no tatha kayakammam no tatha vacikammam. —Majjhimanikaya I, 373 (P. T. S. edition)

(8) The Buddhists maintain that because of such volition-loaded beh viour (sancetanikam, kammam) a man experiences pain:

sancetanikam, avuso Pataliputta, kammam katva kayena vacaya manasa, dukkham so vediyatiti.

—Majjhimanikaya III, p. 207 26-27 (P,T.S. edition)

(9) A morally cultivated mind is developed by suppressing and eliminating volitional capers. the very root of our immoral behaviour. These capers are : raga, dosa and moha :

tin imani bhikkhave nidanani kammanam samudayaya. katamani tini ? lobho nidanam kammanam samudayaya, doso nidanam kammanam samudayaya, mohonidanam kammanam samudayaya.

—Ariguttaranikaya I, p. 134 15–18. (P.T.S. edition)

(10) Cetana forms our habits and attitudes. It dictates to the contents and influences their cognition. Cetana is a pollutad form of citta. Its main function is to co-ordinate its own epistemic states, which are grasped as phenomenal objects. Its another function is to conate, urge or motivate in the moral realm guiding our moral karmas. Cetana is thus a very powerful drive[4] for action (karma):

cetayati ti cetana. saddhim sampayuttadhamme arammane abhisandahati ti attho sa cetayitalakkhana, cetanabhavalakkhana ti attho. aynhanarasa pana kusalakusalesu eva hoti. kusalakusalakammayuhatthanam hi patva sesasampayuttad–

hammanam ekadesam attakam eva, kinccam hoti. cetana pana atireka-ussaha atirekavayama, diguna-ussaha diguna-vayama.

—Atthasaiini, p. 91.26-31, (ed. P V. Bapat and R.D. Vadekar, Poona, 1942)

(11) Cetan is essentially a mental driving force, a mental activity, towards phenomena :

cetana manasam karma — Abhidharmakosa. IV. lc.

cetana cittabhisamskaro manaskarma.

—Anguttaranikava-bhasya on II.24.

cetana cittabhisamskaro manasas cesta yasyam satyam alambanam prati cetasah praspanda iva bhavati.—Sthirama i's bhasya on Trimsika. 3. p. 48. 4-5. (See note 1)

cettabhisamskaramanaskarmalaksana cetana ceti.—Madhyamakakarika-vrtti. p. 134.16 (ed. P.L. Vaidya, Daibhanga 1960).

cetana—cittabhisamskara—karma.

(12) The essential character of cetana is effected in three kinds of karma : (1) ethical deeds (punya-karma) which result in happiness (sukha), (2) unethical deeds (apunya-karma) which matter to painful experience (duhkhavedantya). and (3) such deeds which mature neither to pleasant experience nor to painful one (aduhkha-asukha-vedantya). but to a new series of individual alayavijnana for the next life. The cetana-generated karma—mental, bodily and speech—and the illusion of duality of subject and object (—grahya-dvaoa) created by the subjectivity of vijnanaor cit

further generate a force (—vasana) which is acuumulated in the individual's alayavijnana for further maturation :

sukhavedantyam karma yat punyam, tridhyanavedaniyam caninjyam duhkhavedantyam karma yad apunyam aduhk-ha-sukhavedantyam karma yat sarvatralayavijnenavaipakyam karma, caturthac ca dhyanad urdhvam aninjyam.

—Yogacarabhumi, P. 192 6 9 (ed. V. Bhattacharya University of Calcutta, 1957)

karmana vasana grahadvayavasanaya saha I
kstne purvavipake nyad vipakam janayanti tat II

(13) The inherent evil tendency of citta when it is in the form of alayavijnana—with respect to klesavarana and jneyavarana—and the follow-up karmas are the root cause of the whole phenomenon. Klesas are further considered as the primary cause of all creations. under the influence of klesas, an individual's karmas mature to a new existence (punarbhava). Again, this karma in the form of new existence comes under the influence of klesas till the latter are exhausted by following virtuous path (astangamarga).

samsarasya hi karma klesas ca karanam tayos ca klesah pradhanam, tatha hi klesadhipatyatvat karma punarbhavak-sepasamartham bhavati nanyatha, tatha aksiptapunarbhavam api karmaklesadhipatyad eva punarbhavo bhavati nanyatha. evam ca klesa eva samsarapravrttch pradhanatvan mulam atas tesu prahmesu samsaro vinivartate nanyatha.

—Sthiramati on Trimsika 19, p. 61.24-27 (See note 1)

Sthiramati's Bhasya on the Trimsika (19, 29 and 30) discusses the remedy and the process of elimination of klesas which generate

evil karmas The Buddhists, therefore, advise one to rise above the level of klesas and to work for the universal good of all sentient beings. The basic pre-requisitc of all this is realisation of the oneness of the cosmic principle (dharmakayadvayajnanabhava):

> asrayasya paravrttir iti. asrayo tra sarvabijakam alayavijrienam. tasya paravrttir ya dausthulyavipakadvayavasanabhavena nivrttau satyam karmanyatadharma-kayadvayajnanabhavena paravrttih.
>
> —Ibid., p. 68.3-5

This cosmic principle transcends all discursive thought (acintya). logic (tarka-agocara), and analogy (drstanta-abhava). It is known only through realisation (pratyatmavedya), It is the founation of spirituality (aryadharmahetu), free from defilements (anasrava) immutable (dhruva, nitya), indestructible (aksaya) and ultimately blissful (sukaa):

> anasravo dhatur iti sa evasrayaparavrttirupah. anasravo dhatur ity ucyate. nirdausthulyatvat sa tv asravavigata ity anasravah, aryadharmahetutvad dhatuh. hety artho hy atra dhatusabdah. acintyas tarkagocaratavat pratyatmavedyatvat. drstantabhavac ca. kusalo yisuddhalambanatvat ksematvat anasravadharmamayatvac ca. dhruvo nityatvat. aksayataya. sukho nityatvad eva yad anityam tad duhkham ayam ca nitya iti. asmat sukhah klesavaranaprahanat sravakanam vimuktikayah.
>
> —Ibid, p 69 14 19

All this is the result of our analytical thinking and interpretation of our experiences which change fundamentally the attitude of those Individuals who are engaged in pursuing selfish good

only. Thus, an individual transcends himself and works for the welfare of entire humanity, This is the highest karma of man in general.

The Buddhists classify and discuss the types of karma in two ways: (1) kusala akusala and avyakrta, and (2) vijnapti and avijnapti. I have above discussed the former in briet The latter is discussed in detail by Vasubandhu in his Abhidharmakosa and Karmasiddhiprakarana. Some modern scholars have taken up this issue including the transformation of karma into phala, and their types and correlates. A discussion on them goes outside the purview of this study and I need not go into them here.

References

1. Bhasya on Trimsika 29 (See A K Chatterjee, Readings on Yoga-cara Buddhism, Banaras Hindu University, 19971, p. 69 3-4).
2. Lambert Schmithausen, Alayavijnana (On the Origin and thv Early Development of a Gentral Concept of Yogacara philosophy) 2 Parts, Tokyo,

   The International Institute for Buddhist Studies, 1917, p. 6.
3. Larikavatarasutra, ed. P.L. Vaidya, Darbhanga, 1963, p. 64-22
4. H V Guenther (Philosophy and Psychology in the Abhidharma, Delhi, Motilal Banarsidass, 1974, q 41) rightly translates cetana as stimulus, motive and drive.
5. See H.S. Prasad, The Uttaratantra of Maitreya. containing Intro-duction, E.H. Johnston's Sanskrit Text and E. Obermiller's English translation, Delhi, Indian Books Centre, 1991.

—●—

The Concept of Karma and Freedom in The Gita

Dr. Asha Maudgil
Lecturer Deptt. of Philosophy
Panjab University, Chandigarh

All human endeavours fall under two categories, the Preyas and the Sreyas Nothing among the human acquisitions and experiences can lie outside these two categories. Pleasures that are sensebound and prove to mutation come under the category of Preyas The generality of man kind are the seekers of Preyas. For them anything beyond the senses and intellect is unbelievable. Any attempt to obtain Sreyas can not be looked for in them. But there are a few rare people who aspire for the transcendental even though it is difficult to achieve. Scriptures designate this transceadental experience as the Sreyas All virtue, strength, self devial and sublimity are born of Sreyas. Before the war Arjuna was the seeker of Preyas. The crises had now brought a sudden transformation in Arjuna. Sri Krishna had patiently waited for this turning point in Arjuna's life. All that comes under Preyas may be imparted to one who claimed kinship and equality of status with the teacher. But that kind of relationship was not sufficient for bestowing Sreyas The reverential attitude of a true disciple was quite essential for it. Now Arjuna has taken to the attitude of a true disciple With love and compassion Sri Krishna happily imparts the Sreyas to Arjuna. Yoga and spiritual enlightenment are all contained in this Sreyas.

The sacred act of conferring the Srayas does not take place picemeal. It comes as a sudden out burst of illumination metamorphosing the recipient into a divine being. At the outset this

experience may seem to daze the disciple. But the disciple who is worthy of enlightenment gets spontaneoculy attuned to it. As a newly hatched duckling takes to water, the enlightened soul identifies itself with the cosmic whole The disciple who has undergone the required mental purification catches the message in an instant and merges his individual consciousness into the Cosmic Consicousness, which is Reality Relationship between Parmatman Jivatman and karma.

God or Parmatman in its alsobute state is indefinab'e. But when he is immanent in the universe. He is denoted as Sat cit Anandam i.e. Existence Khowledge-Bliss A more comprehensive and exhaus tive definition than this cannot be had That which is not affected by space time and causation is Sat or Reality. But all the same Reality puts on the appearance of getting entangled in time, space and causation. Limiting adjuncts are thereby created It is because of these limiting adjuncts that the individual souls or Jivatmans have come into being. The Jivatmans are the manifestations of the Reality. The Paramatman, These individualised souls are moreover given to ceaseless activity. Karma is concomitant with Jivahood as light and heat happen to be part and parcel of the blazing sem Karma is inherent in the Jiva Between the Jiva and his karma, the explanation of one necessarily

All activity is actuated is actuated by will There is no karma independent of the will. Man wills to walk, eat, sleep, wake up and so on, and as a result action. ensues The entire creation is the manifestation of the cosmic will. All forms of will resolve themselves ultimately into the will to live. It is the innate desire to preserve life that transforms itself into various activites. Existence not extinction is the essential nature of the soul God is life. Souls

have emanated from God. So the attempt to assert life in the midst of the seeming extermination imposed on them by the play of Nature preserving, life in the face of death and seeking permanence in the midst of impermanence are the workings of the will to assert existence. This assertion of existence is called Sat. And God is defined as Sat.

Machines do work and man also does work but there is a sharp difference between the two Man feels, but machines do not. Feeling is concomittant with life. It undergoes several modifications, which are manifestations of feeling in Various forms. The positive aspects of emotion such as like, friendship, fulfilment and admiration promote growth and evolution. Negative aspects of emotion such as enmity, frustration and jealousy retard growth and evolution to sublimate emotion to the highest pitch is the summun bonum of life out of the fully blossomed flower of emotion flows the nectar of anandam.

Though both inert matter as well as being also exists yet there is a difference between the two —A living being is aware of its own existence while inert matter is not. Awareness is born of cognition and it is self-evident. A living knows that it exists. This act of knowing is cognition. There is a variation in the intensity of cognition. Highly evolved beings have more of cognition while those in the early stages have it ensbrouded in inerita. The difference in cognition is one of degree and not of kind. A mounting release of cognition as well as its intensification of it is the plan of nature. The inter - relation between emotion and cognition is present in all the phases of life and can be made use af to strengthen the relationship between God and man and thus aid

in spiritual development. Following karma yoga, Bhakti yoga and Jnana yoga all lead to perfection of the Jivatman and once the Jivatman becomes perfect he is indistinguislable from the Paramatman i.e. he becomes one with him

The Bhagvad gita teaches us that it is possible to attain spiritual development without envunciation of the world ka ma makes the person what he is Karma is not intrinsicecally right or wrong. The attitude with which it is performed makes it so The Bhagvadgita prescribes the ri ht attitude of performing actions i e. (1) Nishkaam—karma according to one's (2) svedharma. That the Bhagwad gita prescribes the path of strength and action is evident from the very first expression of Lord Krishna in the Bhagwat gita in sloka 2 8 3 of chapter 4.

2. Whence, O Arjuna, has this weakness, not entirtaned by honourable men (Aryans) nor conducive to (the attainment of) heaven, and leading to ill fame, come on you at this crisis ?

3 Yield not to unmanliness O Partha, it is not worthy of you, shaking off this, mean faint-heartedness arise, O scarcher of faes.

Stress is laird on duty and duty done in a desireless way equanimity without thought of fruit of ones actions leading, to spiritual enlightenment in Slokas, 47 to 53.

Sri Ramakrishna has highlighted the same with the help of interesting parallels. He says "A boat may be floating on water, but no water should be allowed to get into it. Man may live in the world, but no worldly desire ought to take possession of him." He also takes the example of a Amainderment in a rich mans house. One shd always. Be prepared for separation from earthly possession.

The situation of the Gita in the battle ground symbolises the battleground of life where there is the coustant task of making decisive on what to do in the varied and conflicting situations that one finds oneself. According to the Gita one must always do one's duty or Swadharma. But what is one's duty cannot be fixed once and for all in absolute terms for duty is relative to one's stuation in true piace environment context and life.

Accofding to Rojagopalachari "Duty is not the same thing for everyone and the some thing for all contracts We cannot draw a straight line in and around the movning earth on which we operate. So also duty cannot be laid down except for each one separately and for the circumstances prevailing at the time.

The Gita lays down a doctrine of relativity for Dharma. Just as Einstion has given the doctrine of relativity to qulify physical motion with a new conception of space time, the Gita lays down that duty depends on desha and kala and one's function"

The Bhavna attitude of Nishkam karm or the principle of detachment purifies the action which tends to be evil. Yet all defects are set right if one acts in the spirit of selfless performance of duty rightly determined. i.e. Niskam karm aac to one's swadharma,

Swadharma is high lighted even in Chapter 18 sl. 45 to 48, 81) says. The work to which you are born, the involving defects, ought not to be abondaned All undertakings indeed are clouded by defects as fire by smoke."

---

1. Exerpts from he speech at the Gita Jayanth celebralions in a temple an Dec. 4, 94, 9

The law of causation or C-E reliseep operates in all spheres of activities. This law governs the exterval world as well as the internal world of man of man. It operalis at the physical, mental and intellectual levels of man's perronality. If your physical body is healthy you must have gone through proper physical training. If it is pale and sickly you must have denied yourself the training. Similarly your present emot ons and thoughts are an effect of an earlier cause What you are today is a result of what you have been doing in the past dating back from today what you will be is the future will depend on what you do from today onwards.

The law of cansation applicable to man falls under two heads. They are the law of testing and the law of karma (1) Law of destiny conects your past with your present status (2) Law of karma deals with your past, present and extends into the future : it is more comprehensive. It explains your life in this world in its entirety in a logical manner.

Law of Destiny :— The nature of man is the total effect of all his past thoughts desires and actions. The past activities or the cause and Present nature is the effect. This effect is called de riny. This present destiny is fixed and not free If you had an education in the past than you are literate if not than you are lliterater If you have had spiritual training in the past you enjoy peace and harmony at present If not you are agitated and full of sorrow. Destiny is therefore a part of the scientific law of causation Each one is a creator of their destiny. There is no external power shaping or controlling your destiny. It is not contralled by god. There are those who say everything happens with the will of god. There are others who say it happens because of man's efforts. Though these seem to be oppasing points of view both are right

for god is the prime never of all activities. And man directs their movement. God is the substration af all activities which determine destiny Yet man is responsible for his destiny since he determines the quality and nature of his activities What you sow you reap. Now passesses unlimited power to make or mor his future.

Law of Karma is an extension to the law of destiny as it extends into the future. Man is not only a product of the past but also a praducer of the future. He is product and producer at the same time. When mans attention is an the past he feels like a product victin and slave But when he directs his attention towards the future he feels like a producer architect and master. Knowledge of the law of karma makes man optinistic in life. He understands that his present difficulties are the result of past univtelligent actions. Yet he has the opportenity NOW to create a batter future for himself. The awareness of this law makes man aware that he is a master of his destiny.

Freedom and bondaze here seem to co-exist. Man is bond by his own past yet he is free to act as he wills. The extent of freedom and bondage is well llistrcted in the example of the movement trains on rairway lines. The train is free to move every-thing. But its movement is restricted to the tracks laid down already The Railway lines designate man destiny. The freedom to move on them designates free-will These two, elements ie man are also called is purushartha or self effort which is the independent element and prarabdha or destiny which is the dependent element There two forcer are operating in the life of all humanity.

Praraletha is a total of your past purusharthes Destiny is the effect. Self eltant is the cause. If man uses self effort to his advenmenteg he will rise otherwise he will fall. Man can change his destiny with self effort.

The Gita prescribes two methods ro dissolve all actions and to be free from this bondage. They are Knowledge of truth about actions and attainment of that knowledge. Good creates the miner but he is not Bound by action because he is neither attached to action mor to its fruit nor does he have the sense of doershis, The actions those who have no desires and have no attachment to their fruit self away. Such persons are not bound All actions done to sategnard the tradition of the performance of duty melt away. Thus by knowing the truth about actions properly men become free from the bondage of actions.

Knowledge consists in total detachament from the unsentent This knowledge is superior to rscrifices which are performed wite malerials. All actions mett away in this knowledge. Maning acquired this knowledge man is never deluded. As the blozing fere reduces the fuel to athos so does the fire of knowl reduce all actions to ashes.

True Religion : A Need of Modern Man

Dr, K,A, Agrawal
Dept. of English
Gurukul Kangri University, Hardwar

In the modern scientific age human mind has been dominated bv a mechanistic outlook Science has reduced the distance of nations. The big world now has become smaller. Thus modern men have been brought into a closer contact politically, socially and cul'urally. The whole world has become a family. Now man compares his social and behavioural patterns with those of other nations. When he does so, he finds some things common but many things different and strange. Modern man wants to find explanations based on reason for behaviour and thought processes during his daily life. To understand some of his own beliefs, he should compare the beliefs and principles of other religions also. The study of other religions and the explanations given by them will make him able to understand the reality of his own beliefs.

There are some people, who at first react that other views are strange and alien, and so they will not stand in compatisions to his own views. Therefore, he would not like to welcome and embrace them and so they will try to avoid them. But, on the other hand, some persons may like to investigete other religions. Even strange and alien views would sum to be new ideas for them, but even then they would give importance to a new idea because it will be a human, kindred and potential idea for them. They may learn something from it Such type of intellectual and reasonable persons through their reasons, study of modern science and technology may be able to discover the common features in their thinking processes and behavioural patterns. Reason and experience

are the two important scientific methods for modern man. Mere faith does not stand before these two scientific methods. If a religious man preaches the principles of his religion from the pulpit without the scientific proofs, he can not satisfy the reasoned public.

In the modern scientific age 'the human need formerly filled by prayer, religions guidance and so on, is taken over by psycho-analysis these days. Society or community takes the place of a personal deity. Such noble impulses as love of one's neighbour and unselfish service are substituted in modern time by institutionalized philanthropic and charitable works.'

Modern age has discovered new scientific and technological things, which are able to satisfy desires of of man The modern man began to feel that most of the problems of life can be handled without the knowledge of God, soul and immortality. It decreases the importance of religion. The scientific man has began to think That one does not need to apply religious knowledge to solve the problems of life. But this type of thinking is not right. In day-today life it can be seen that the average educated person today is not found to be religious , though many people havavhague religious teoughthts and feelings which they are unable to explain. On the other hand, in the Middle Ages people had an anchor in rheir livies thro-ugh faith in God They were more satisfied with their lives. Their most of the problems of life were automatically solved when they left every thing with the will of God. But in modern times people seem to have drifted away from this point oi stability, and as arasult an ever increasing number seem to end up in toe paychi-atric chair .

Hindu religion believes that the world process is sustained by two forces - Pravritti and Nivritti The former is desire for wordly prosperity while the later is desire for liberation. The scholors of Hindu mystics say that even the Pravritti must be controlled by spiritual laws. Only then man can lead a peaceful life and if his desires for worldly prosperity are left free and there is no anchor to control them by spiritual discipline, they will create chaos, confusion, wars and destruction. Unfortunately, the people of the world are facing all these and they are leading their lives in unrest. In Bible there is a story of the prodigal son who may have all possible worldly pleasures and comforts, and yet some time or other he discovers that earthly life is short-lived He then proclaims, 'What shall I do with these earthly possessions if I am doomed to die ?' and thus goes in search of immortality and eternal life. An another instance we can give of Lord Buddha of Kalpilvastu He saw birth, growth, decay, old age and death of man and was dissatisfied with the lives of human beings. He left his Palace in the night in the search of truth After many hardships and penances he discovered enlightenment Then he showed to mankind the way to attain eternal peace, joy and enlightenment through detachment. But the instances show that if people have an anchor in their life through faith in God they can lead their peaceful life.

Sciencetstuaies only the outer life : psychology studies only the fringe of the mind ,but the study of religion reaches that which is deep and sublime in man. Animals and uncul tured man derive their pleasure from the senses, whlie educated man get it from art science and philosophy, and spiritual man from the spirit within, The test of religion is in the attainment of highest bliss and freed-

om which is an automatic outcome of the communion with one s highest nature. Vedanta speake God as the emdodiment of freadom ard the mester of nature, and through the control of his passions and desires, man achieves not only union with God but also freedom and self-manstery.

Eternal truth is the essence of religion. Dogmas,creeds modes ofwodes of worship' rituals and mytholeogies, are the basic essnce of religion. They are conveyed by scriptures. The religious teachers explain these scriptures to the people with the help of different stories and instances. The Kernal and the husk are both essential for the corn. But, in the ultimate analysis, the Kernal has to be sepuated from the husk before it is ready for consumption. Similarly, the non-essentials of religion which change from time to time, must eventually be transcended leaving the central truths which are eternal. The real aim of a true religion is to realize the real nature of man, the universe and the ultimate reality. Without realizing it man and nature can never be controlled. The essence of all the religions - Hinduism Christianity, Judaism and Islam etc. - is to explain eternal laws synthesize God, soul and the world. The great religious scholors of India whom we call Rishis discovered these enternal laws through their spiritual penetration and meditation. They, first, demonstrated these impersonal truths in their own lives and when they were satisfied with tham, they preached their followers to adopt them in their lives to get perfection. True religion is based on scientific exploration.

Modern man wants to abopt religon which will satisafy his reugson, That isthe demand of the age id which we live. we shonln glwaps kedy this test in our miund . Truth isno not the

monopoly of particular person or group of person it is open and can be persuaded by all persons having- different notions Almighty God is the controller of whole universe. Men may adopt different ways and methods to realize Him. Scriptures are based on experiences and they are the torch-bearers and indicate the way to reach to God. Through their study men will be able to perceive Him. These scriptures and personal experiences give men the inner conviction which science alone can not provide. In the same way mere religious beliefs based purely on the intellect will decay like a bouquet of flowers. The synthesis of the two is necessary. Science and religion seem at conflict when they describe the process of creation. Matter and force are two entities which bring force of the process of creation Akasha is the primal matter and Prana is the primal force. They act upon each other and thus create forms; and at the end of the cycle all material forms are ultimately reduced to undifferentiated Akasha. This Akasha remains involved in Prana. They remain mixed together in fine forms in a state of dissolution not annihilation. When the new cycle begins, creation appears to evolve in reverse process - subtle to gross.

God is not creater. Infact, He is the manifestor and manifests Himself as the universe His real identity is explained in the 'Mundaka Upnishad'.

'As a spider spreads and withdraws its thread, as on the earth grow the herbs, and as from the living man issues out hair on the head and body, so out of the Immutable does the universe emerge here. (I 7) All that is seen through the sense organs, felt in the mind and heart, and experienced through intution is that One Reality called God. Modern man can get satisfiction if he adopts

the midway of science and religion. Both can make his personality perfect. Man should perform his duties sincerely and have faith in God. The Hymn of Katha Upanisad invokes men to get peace in mind which is the remedy for those people who are leading an unrest materialistic lives.

Om,
May God protect us
May He guide us
May He give us strength
and right understanding
May love and harmony
be with us all
Om, Peace, Peace, Peace

---

1. Invocation at the beginning of Katha Upanishad.

GITA :
A WORK OF WORLD RECOGNITION

— ACHARYA SHYAM

Gita is a work of world recognition. This gives us universal message of man kind The message of the Gita should be the path to humanity for ages. This always gives light to the people of the world This is their supreme pillor of light. This opens the invword eyes of the man. They may be called the eyes of the heart The teacthings of The Gtia are beyond the dimensions of time and space They are not for any particular age but they are for all the ages. They are equally applicable in the past, present and future. They are eternal. They are relevant in every age This is not a book of any particular age but of all the times. There lies the divine message of life in The Gita. It is transcendental It is like "Brahmdrava" In The Gita the "Karuna" of the God is Continuously flowing This contains the exhortations of the heart of the God He proved the reality of the above in the Gita from His own tongue by saying that "गीता में हृदयम्" i.e. The Gite is my heart. It is therefore beyond from our intellect.

We cannot understand it throught our intellect. Lord Krishna has proved relevancy of the Gita in His following words :

"बुद्धि ग्राह्य मतीन्द्रियम्" i. e. we cannot understand the Gita through our intellect because this is beyond of it. Really this is the heart of the God. This is His best exprience. We cannot understand the heart through intellect because the one is the origin of the other. one is the root or base of the other. He spoke through His heart in the Gita. The language of the Gita is the language of the heart. This is the language of "Sadhna" conduct or behaviour.

The Gita is the Conversation between Nar and Narayan or devotee and the God This is possible only betw3en these two No one can achieve the ability to understand the Gita without faith and devotion. Only the man of faith can get the knowledge of the Gita. They Yogiraj Krishna proves this through His own words i. e "श्रद्धावान्लभते ज्ञानं" which means the man of faith gets the knowledge He who has faith in himself gets the knowledge.

He underlined the importanoe of the faith in his above formula. In order to understand the Gita one should aquire the ability like Arjuna It is essential for him Lord Krishna has given the Supreme preaching to the whole human race through Atjuna He is the medium for this He gave the unique or Supreme Knowledge to the people of the world. This is not a new thing. This is eternal or universal. This is traditional

The most important question which arises now as to why did Lord Krishna gave the Knowledge of the Gita only to Arjuna ? The answer is very clear that LordKrishna gave the Knowledge of the Gita due to his two great qualities.

They are faith and faultlessness. The God represented this through His formula "श्रद्धावान सूयवे" i. e. due to his faith and faultle-ssness.

Lord Krishna gave the knowledge of the Gita to the Arjuna. That is he has faith and he does not see vice in other There for if we want to understand the Gita then we will have to develop or inculcate.

The above two virtues in ourselves. We cannot understand the Gita without cultivatitg. The above said two qualities or virtues in ourselves. Today we want to understand the Gita but we do not

want to becom϶ Arjuna. W϶ do not want to perfom The Sadhna in our life. Therefore we are not able to understand the Gita. The Arjuna does not see any vice in his Kaurav brothers, though they took his every thing. They Cheated him from every side. They deceived. him. They made their all p`ssible efforts to destroy all his brothers. They did every injustice to him. In spite of all these things he does not feel any sorf of difference to them. He new no fault in them. He does not want to fight and kill them for the worldly things. He has his faultless vision His heart is pure and simple He does not care even for his duty due to his purity and simp!icity of the heart. We was perfectly trud in his root. He is strongest, where we understand him the weakest.

Infact only that man is able to see the God who has the faultless vision.There is no fault in God therefore He can be seen only by thefaultless vision.We cannot see him with the spectacle of the fault It is said therefore in the Gita thet 'निर्दोषं हि समं ब्रह्म" No one can be attain the Knowledge of the God without tbe above virtue.

The Gita is a conduct oriented book It is conduct or behaviour from beginning to the ending It bagins from conduct and ends in conduct. It is most practical in itself this is not possible to understand, the importance of the Gita only by bookish knowledge. This is not the thing of craming. This is not any word or language but this is sadhana. In order to understand this we will have to identity ourselves with the reality which lies in the words and the language of the Gita. Infact, the language of the Gita is the language of conduct or behaviour. Its every word is for conduct or behaviour. This is a complete, Sadhna in itself without Sadhna this is not possible to understand the reality which lies in the Gita In other words this

can be said, the Gita is the name of the continuous sadhna of the divine qualities of life. They bring the sadhak towards the higher stages of sadhana This is the best medieum for spiritual awaking. The Gita awakes us for ever.

The Gita is the book of the greatest combination of the world There is the Supreme combination of knowledge, devotion ahd action. The Triveni of these three is flowing in the Gita or there is a confluence of knowledge action and devotion These three have become identical in it. They have become one in the Gita. In this reference it can be said that one is in three and the three is in one By taking the name of any one of these three, the rest two automatically are included in it This can be shown by the following farmulas—

Gita = Devotion + Knowledge + Action
Devotion = Knowledge + Action
Knowledge = Devotion + Action
Action = Devotion + Knowledge

In the Gita we find the depth of the ocean and the largeness of the sky Therefore it is most essential to go in the depth and the largeness of the heart in order to undestand the Gita This is not possible to understand the mystery of the Gita without sinking in the ocean of it For this the complete development of the heart is required. For this the purity of the heart is needed. This is achieved through the continuous Sadhana of the several lives. One cannot achieve this suddenly This is not any magic. The Knowlenge of the Gita cannot stay even for a moment in the impure heart.

purity of the heart is the result of the Continuous sadhana of the several lives.

Every word of the Gita is a sadhana in itself. It is Complete in itself there lies its explanation in it is also it's expression but this is not possible to get the reality from it, with out attaining the self realization, through continuous sadhana. Man gets the experience of the life through sadhana This word represents the principle.

The Bhagvad Gita opens the mystery of the soul. This is the discovery of the self By this weidentify our selves with the real power of soul The light has been cast on the immortality ot the soul in it The real form of the soul has been confirmed in this from every side, After getting the proper knowledge of the Gita all the problems cf the man are automatically solved. This gives their complete solution. In it the light has been cast on the reality of life. The char-acteristics or the qualities of the Gita have been inaugurated in it. In it the reality is presented The Gita makes us familiar to the reality of the soul. According to this the change does not mean the destru-ction. It is good to treat change as change The soul. is the universal part of the God. There is a relation of part and whole between them. This is part of the God Therefore the part is not separate from the whole because this is inseparable from it. The qualitas of the second are present in the first. He who understands the part very well, also aquires the abilitv to understand the whole

The Gita remove of the darkness from every field of life There remains no place for that in the light of the Gita. This has the extra ordinary capacity to finish completely our inner darkness This removes the darkness of our several lives This removes all sorts of

disparities, doubts and confusions of life. The man cannot see the real path of his life in presence of all these irregularities. This is not possible to follow it without observation because we can follow after observation. Without knowing following is not possible He (man) recognises his real power through the Gita It is the unrivalled weapon to get victory over the human weaknasses. The Gita tells us that how we can achieve success in this world. Not only this, but it also clarifies the form of success before us In other words, this tells us the real form of the success and failure this preaches us to leave the worldliness not the world.

This tell us to leave the lustor or Vasana, not to leave the place of living. It tells us to leave the desire or इच्छा or कामना not to leave the work. This teacnes us to leave the attachment of the worldly things and not the things themslves. One should remain detached from them because the attachment binds the man. The Gita instructs us to live in the world like a lotus flower. It lays emphasis on the detachment of the different things of the world not the things in themselves because the sacrifice of the attachment is the real sacrifice. The outer sacrifice and inner attachment is show and hypocracy in itself. The Gita tells us that the man should remain firm like rock in the adverse circumstances of life.

The principle of action of the Gita is supreme in itself. The gives us the most important formula of the action through the following words :—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन । मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥

THE GITA IInd CHAPTER 47th SHLOK 22th PAGE

i. e. Your right is to work only but never to the fruit there of. Be not instrumental in making your actions baar fruit, nor let your attachment be to in action.

One should be firm for one's work because this is the right of man to work only. He should not care for it's result because the result of every action is right This is in the hands of the God. He is Almighty. He is perfect. He cannot commit any fault. Mistake lies only in our action because we are incomplete, If we have not got what we want this means we have not done what we should do. Had we done what we should do we would have surely got what we should have. We should not care for the result of the action because we always get it according to our action. We cannot save ourselves from this in any state. It's result is definite This is said in in our Shastras :—

"अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ।"

This means that the result of the every action is definite. It is unavoidable. We should do the right action because this always gives the right result. The God is complete in himself from every side. He cannot commit any mistake. This always occurs from the side of man because he is in complete. We must justify the ways of God to man.

We cannot escape ourselves in any way from the action. We cannet remain passive or inactive.

This is necessary for us because Lord Krishna has said in His Gita that the man cannot remain without action even for a moment. This is represented in the following words :-

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् । कार्यते ह्यवश: कर्म सर्व: प्रकृतिजैर्गुणै: ॥

THE GITA IIIrd CHAPTER 5th SHLOK 30th PAGE

Surely none can ever remain inactive even for a moment; for every one is helplessly driven to action by nature—born qualities.

So when the action is necessary for us, then why we should not perform the right action, so that we may get the right result because this is perfectly true that right action always gives the right result and wrong action always gives rhe wrong result. It is therefore proper for us to perform the right action.

We can achieve the aim of our life only by performing our duty. We cannot get it in the air. We cannot attain it through jump. This is said in the following lines of the Gita :—

"स्वकर्मणा समभ्यर्च्य सिद्धि विन्दति मानव:"

The Gita 18th Chepter, 46th Shlok, IInd Line, 175th Page

I. e. Man gets his destination after performing his duty. Late C. Rajgopalacharya has put up this in a beautiful way in his article I AM NO CRANE' in the following words :—

Man reaches perfection by doing his job, whatever it may be, the job may be high or low big or small. It does not matter at all. What matters the spirit in which one does one's work. The true warship of God lies in doing one's duty honestly and sincerely."

The Gita not lays the emphasis merely on doing the action but this also tells us that how we can act properly. This makes us identi-

fied with expertness of the action. The yoga is the name of the expeitness of the action. This is presented in the Gita by the following formula —

"योग: कर्मसु कौशलम् ।"

The Gita, IInd Chapter, 50th Shlok, From IInd Line 23rd Page.

I. e. Yoga lies the skill in action.

We should perform our duty without any attachment because this is the greatest bondage in performing the action properly. We cannot become free merely by doing our action. This is an art to perform the action. We should perform our duty for God because this is proper to work for God. We should perform our duty by understanding this as a work of God. We should leave our every thing on His desire because we cannot go against his desire. Therefore it is proper for us to work according to desire. If we may add our desire in the desire of God. Then we may not feel any sort of difficulty we should subordinate this Him. Performance of the duty is required to become from the duty. We can become free from duty only by performing our duty according to the rules of the God This is possible when we dedicate our action to the God. The attachment is automatically finished when we dedicate our action to God.

The knowledge of the Gita is traditional. This is not a new this is ever lasting. This is universal. This is permanent. Lord Krishna has only repeated this. When in the dimensions of the time people used to forget, then our incarnations in their different forms show us the real path of the knowledge. They make us identify with it."

Lord Krishna has given a clear conception in the following lines of the Gita :—

इम विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् । विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वा-कवेऽब्रवीत् ॥"

The Gita, IVth Chapter Ist Shlok, 39th Page

Shri Krishna told that He taught this immortal Yoga to vivasvan (Sun-God); vivasvan conveyed it to Manu (his son); and Manu imp-orted it to (his son) Iksavaku.

"एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः । स: कालेनेह महता योगो नष्ः परंतप ॥"

The Gita, IVrth Chapter, IInd Shlok 39 tth Page

This transmitted in succession from father to son. Arjuna, This Yoga remained known to the Rajarsis (royalsages) It has. however, long since disappeared from this earth.

स एवायं मया तेऽद्य योग: पुरातन: । भक्तोऽसि में सखा चेति रहस्य ह्य`तदुत्तमम ॥"

The Gita, IVrth Chapter, IIIrd Shlok, 39th Page

The same ancient Yoga has this day been imparted to you by Me because you are My devotee and friend, and also because this is a supreme secret.

The glory of the Gita cannot be described in words. We can understand this only through the mercy of the God We can know it's mystery only after dedicating ourselves to God.

In the present contest we should follow the two formulas of the Gita :—

"मामनुस्मर युध्य च"- The Gita, VIIIrth Chapter, 7th Shlok From Ist Line 79th Page.

Sri Krishna advise Arjuna to think always of Him and fight and

"सर्वभूतहितेरता:"-The Gita, XIIth Chapter, 4rth Shlok From IInd Line, 123th Page.

I e we should remember the God and along with this we should fight against the disparities of life because we cannot get victory over them without the mercy of the God and we should do our work for the welfare of all the creatures of the world.

The Gita is the 'Mahamantra' of human liberation.

This is the 'Gayatri' of the human welfare.

The Bhagadgita is our spiritual mother. The gives us the immortal life. It does our welfare from every side. This librates us from the cycle of life and death. This makes us free from all sorts of the wordly diseases. This is the best medium to cure all the worldly diseases, This purifies the heart of the man from every side. Who so ever goes in the selter of the mother Gita his welfare is definite. The Gita is a hospital rn which after comming, all sorts of diseases of the world are cured in the best way.

In the present context the Gita is the supreme book of the world. This is the best book of combination. This is the supreme meeting ground of the prominent religions and cultur's of the world

The popularity of the Gita can be known by this fact that the thousands commentaries have been written on the Gita and they are still being written. The Gita lies in the root of our freedom struggle. This is the book of the complete revolution Our revolutionaries took inspiration from the Gira. Through this, they realized the power of their soul and executed or implemented this throughly.

The Dejected Soul by Shri B.P. Tewari Gonda U.P. Saket Publication, April 1992 Priced Rs. 40 000 only pp. 204.

Reviewed by :—

Dr A N Dwivedi
Deptt of English
University of Allahabad

This fanciful account of the life-adventures of the Dejected Man called Manendra, the Head Clerk in a Block Development Office, seems to be destined to capture the reader's attention with a sense of hesitation and unwillingness, coming as it does from an obscure publishing house situated in a small city with its blurred and blunt type. Dedicated to Shri S.K Singh, a retired I.P.S. Officer, and divided into some neat, clean fourteen chapters, this work moves ahead with certain well-calculated steps, which have a tendency to take to a flashback technique in the matter of narration of events and situations When the novel opens, we get a very touching picture of "the ailing man' (i.e., Manendra), who is on his death-bed counting his hours and who envisions a series of truly tragic and heart-melting scenes and incidents as though in a sustained film. These scenes and events bring before us such weird and every pictures of life as two disconsolate lovers ending their lives together, a desolate and desperate person, a highly dejected housewife, a rich businessman's perplexed son, a high-ranking bureaucrat's suicide over the infidelity of his wife, a cine actor's murder through sweet poisoning by his suspicions beloved actress, a weary worried man's killing of his own wife and children with a sharp-edged knife for want of means of livelihood. A vision of these ghastly scenes steel the protagonist's heart and he is fully prepared to encounter

the challenge of Death without any shudder or shiver. The "ailing man" undergoes a number of pains and traumas, and even the morning light hailed by many brings no relief, no respite, to him. Strangely enough, the name of the ailing man is not revealed until the sixth chapter; this is perhaps done to create a sense of suspense in the reader's mind. It is revealed only after the protagonist's proper growth and education when he is out to seek a suitable employment for himself. His friend, Sudhanshu, comes to his rescue and sends him to his parental home along with two letters ..one for his father and the other for his wife Susheela, and here he lives for a long time. In the meantime Sudhanshu gets selected in I.A.S. and leaves for training and comes back home only to take away his old mother and lovely wife. Manendra also gets a job as a clerk in a Block under the Planning Department. His hopes are all centred on his younger brother, Ramendra, who first becomes a primary school teacher and then a second lieutenant in the army, but one wrong decision in choosing his life-partnar proves fatal for him. A series of tragedies then overtake the protagonist . his respected uncle is done to death by the jealous influential villagers, his granny leaves for her heavenly abode one of his brothers and Shobha, his beloved, are brutally murdered by Ranjit, his erstwhile ruddy wife grows very weak and gaunt before paying her debt to Nature, and he himself is put under suspensian by his boss, Dharma Vira, a corrupt and lewd official by all means. The intervention of Bagish Dutta, a local honest and bold politician, saves his service, and the corrupt official is immediately transferred. In his last days, Manendra receives three letters one each from his son kishore (who passes his High

School in the firest division), from his friend's wife Susheela, and his one-time friend Prem. He asks one of his colleagues to write his replies to them, but desires no response from them. His anxious soul tries to clear "the dirt and dust of the house" (p. 195), and suddenly two framed photos come down hurtling. One photo is of Roopa and the other of Salma, and these two girls were the belov-eds of Manendra in his young and adolescent days. Looking at the photos, Manendra gets lost in nostalgic thoughts. At once, he sees five angels before his eyes, to be followed by the emergence of the Lord of Death himself in his room· Lord asks him to "be ready to move" (p 200), and Manendra greets him heartily and goes with him in the dead silence of night.

In the course of this readable novel. one comes across a number of thrilling episodes and situations. The untimely death of Ramendra is truly heart-rending, and the protagoniet laments over it thus :

> My loyal brothers, my noblest uucle, all have gone.
> Have only I to carry the huge burden of sin and sorrow ?
> No, no. Kill me, do kill me. I will not keep even a pace further.
> (p 146).

He even wishes to wreck the life of Ramendra's wife. Who has killed his loved younger brother, but her pregnancy prevents him from doing so. Earlier, Manendra had wreaked revenge upon Ranjit the hateful killer of his noble brother and darling Shobha. A very touching scene is created in the last union of Manendra with his acutely ailing wife, and in his dream he cries aloud as follows :

> "Padma ! Do not leave me alone Do not leave me alone.
> I will not let you go I have brought medicines for you."
> (p. 184).

Scenes like this one are bound to wring tears from the reader, for they are deep-rooted in Indian ethos and culture.

As the title of the volume denotes, this remarkable literary piece is unmistakably a tragedy. Though it begins on a slow pitch (at least up to the sixth chapter), it gathers force and momentum as it proceeds. In reality, chapters III and IV are somewhat dull and pinching, as they come to concentrate too long on Light but the latter part of the work hastens the plot in a convincing way. Similarly, the killing of so many innocent lives, especially of the protagonist's noble brother and of the beautiful, ebullient Shobha, is to some extent sickening to the heart and mind The practice reminds one of the sombre Greek tragedians and of Marlowe, Shakespeare and Wedster Though tragedies have their own appeal and charm, but this does not offer licence to anyone to indulge in unreasonable slaughters, rapes and acts of arson. Shakespeare's or even Marlowe's dramatic relief finds no place in Tewari's work.

The novel is plagued with a number of linguistic and grammatical errors, to speak nothing of the absence of commas and fullstops and other punctuation marks at places Thus on page 52 of this work we find expressions like ' He shuddered with body and heart both" and "Did he not remain adamant in his shrine temple inspite of many a blasts of opposite winds ?" Similarly, on page 74, there are a few glaring linguistic mistakes. The author would do well to remember that he should not indulge in rhetorics unnecessarily and that he should not repeat those errors in the future. Perhaps the lack of a good printing-press or publisher added to his misery and helplessness.

finally, I must compliment Shri Tewari for embarking upon a noble litarary venture with a fine knack of story-telling and plot -structure. His art of characterisation adopts an authentic and a vig -orous approach, and some of the characters come alive in its pages such as those of Manehdra, padma, Ramendra. Dharma Vira, and Sudhanshu. The author throws sufficnent light on certain burning issues of the day, such as the Indo-China war and the Kashmir tangle, proving thereby that he does not live in an ivory tower. the title of the work fully vindicates itself, and the treatment of the subject-matter rises to remarkable heghts in some selected scenes Kudos to Shri Tewari for having achieved so much in his maiden itlerary venture.

The Concept of Karma in Vedic Literature

Dr. S. P. Dubey

Professor of Philosophy,

Rani Durgavati University,

Jabalpur (M.P.)

The vedic seers have built the temple of wisdom, the tower of which is spiritual fulfilment whereas its foundation is laid down on the firm ground of the Karma doctrine. The principle of Karma may be called the essential element, not only of the moral theories in India, but also of popular belief. With the exception of the Carvakas all the philosophical systems in our country accord recognition to the Karma theory. It is so in so far as the postulates, aims and conditions for the realisation of the spiritual purpose of life are identical in the conflicting schools of thought. So far as the general postulates for the realisation of the summun bonum of life are concerned all the schools are practically in agreement.

The Meaning of the Concept

The meaning of the concept of Karma as accepted in different Indian systems of thought, is roughly, as follows. Whatever action is performed by an individual leaves behind it some sort of potency which has the power to ordain for him joy or sorrow in future according to good or bad deeds. When the fruits of action are such that they can not be enjoyed in the present span of life, one has to take another birth in order to reap them. The particular act passes away as soon as it is done but its moral effect is potentially retained and that fructifies in future. In fact every single thought, word or deed enters into the living chain of cause and effect which makes us what we are.

The Vedic belief was that the mantras uttered in correct form at the sacrifices (yajnas) with exact observance of ritualistic details, without error, had the virtue to produce the desired result This was probably the earliest form of Karma doctrine. It implies the faith that certain actions can produce at a distant time certain effects without the observable sequence of casual relation. When the yajna is performed, the action leaves an unseen magical virtue (adrsta), the 'new' (apurva) by which the desired object is obtained. The modus operandi of the sequence of the act and its result is adrsta.

The concept of Karma was anticipated in the Vedic idea of Rta which connotes the cosmic order. Sin accrues if this order is violated in the moral sphere. Virtue from conformity to this order In the unalterable law of good and bad effects, flowing from good and bad conduct, are to be found the first germs of the Karma doctrine. The unvarying regularity of natural phenomena perhaps suggested the idea of unchanging order in nature. A similar order was supposed to operate in the moral realm as well As the physical order, the moral order also produced results in moral spheres. This moral order is called Karma The term Rta has been used in the sense of Karma [1]

Traces of the Concept in the Samhitas

The origin of the Karma doctrine may be traced in the Vedas, though it is not as clearly enunciated and named as in the later literature The idea finds expression in the concepts of rebirth and transmigration. It is out of these concepts that the law of Karma

1. Rtam pibantau sukrtasya loke — Katha Upanisad, 1 3.1.

sprirgs up and develops. The doctrine is found in the Samhitas which are treated as the earliest documents of the human race. At one place sage Vamadeva refers to his former births by uttering "I was Manu I the sun"[1] In another verse he enunciates the theory of transmigration [2] Here the paths of the fathers and of Gods have been described and it has been noted that everything which moves between father and mother meets on the path. The dead either goes through pitryana or through devayana and when all its merits are exhausted, it returns back to be born on this earth. It has also been noted that those who die in the bright half of the month of the uttarayana (northern course of sun) go through devayana and enjoy heaven whereas those who die in the other half suffer in hell going through pitryana.

Sage Vamapeva is said to have learnt all the births of the gods while lying in the womb,[3] At one place sage Vasistha refers to his previous births [4] How the particular organs are dissolved into different elements is clearly described in the Samhita [5]

The births and deaths, enjoyments anb sufferings of the individual in the world depend on Karma without accepting Karma we can not explain births of souls with different bodies

A very clear and direct reference to Karma is to be found in one of the well-known hymn of the Rg Veda which states that God and soul both are in the same phenomenal world but the former is

1. Rg Veda IV 26.1.
2. Ibid., X.88 15
3 Rg Veda, IV. 27.1.
4 Ibid. VI.33
5. Ibid X 16.3.

simply the witness of Karma whereas the latter enjoys its fruits. The idea has been made clear by an analogy, namely, two birds of fair wings knot with bonds of friendship in the same sheltering tree have found a refuse with the only difference that one of them eats the sweet fruitage but the other do3s not, and only sees.[1]

The Concept in the Brahmanas

References of the Karma doctrine are to be found in the BRAHMANAS also. AITAREYA and SATAPATHA are the two important Brahmana texts. The Satapatha tells us that the consequence of incorrect performance of rites is to be borne by the sacrificer. It elso tells that the deeds pass between two fires which allow the good man to pass safely but burn the evildoers.[2] Everyone is weighed in the balance and receives reward or punishment according to past deeds in the next birth. This limited idea of Karma developed into the moral concept that good or evil conduct produced a better or worse character and opportunity. The Satapatha speaks of repeated births and deaths in the next world, both for the man who has correct knowledge and one who performs a certain sacrifice resulting in his attainment of immortality. The Aitareya Brahmana refers to a third birth after death, beside that from the parents and the second by religious initiation (e.g. upanayana).[3] It may be noted here that in the Samhitas Karma has been identified with Fta whereas in the Brahmanas it is assoeiated with yajna.

---

1. Ibid., I.164 20.
2. Satapatha I 9.3.
3. Aitareya Aranyaka, 11.5.

Prof A B. Keith, an eminent orientalist. feels that the origination of the principles of transmigration and rebirth are some of the most difficult problems of Indian philosophy. He [1]finds that the references to to transmigration treced in the Rg. Veda Samhitas are of improbable nature. He also says that the Brahmanas contain, on the whole, no acceptance of the doctrine of transmigration. But from the above it is abvious that his views are not wholly correct. If we dive deep into the Samhitas and the Brahmanas we shall come to realise that they contain the doctrine of Karma and transmigration in their bosom In fact it was the task of the Brahmanas the prose treatises describing and explaining ceremonies and rituals, to develop the idea of Karma along with the introduction of the theory of transmigration.

The Doctrine in the Upanisads

The doctrine of Karma, implicit in the Samhitas and the Bramanas, has been developed in the Aranyakas and the Upanisads. The ethical doctrine of Karma, and its connection with the principle of transmigration is developed in a beautiful passage of the Brihadaranyaka.[2] It is perhaps the earliest and clearest description of the doctrine in the Vedic literature. It tells us about the fortunes of the souls and incidentally develops the doctrine of the transmigration of souls and in close connection with it the ethical doctrine of Karma. Karma, with the infallibility of law of nature must produce its consequences and regulate the new births New births depend on person own deeds and makes him/her an architect of one's own fate with pointed examples the the doctrine is

1. of. his Religion and Philosoahy of the Vedas and the Upaniṣads p. 570.
2. Brhadaranyaka Upanisad, IV. 4.45.

thus set forth : – Just as an embroidress, and out of it creates a different a quite new and more beautiful design, so man, when he has stripped off his body and has rid himself of non-knowledge, creates for himself a different, quite new and more beautiful form, that of the spirit of an ancestor or of a Gandharva of a Prajapati, of a god or ot a man, or that of some other being –As he has acted, as he has lived so he becomes: he who has done good is born again as good one he who has done evil is born again, as an evil one. He bocomes good through good action, bad through bad action Therefore it is said, Man here is formed entirely out of his desire and according to his desire is his resolve, and according to his resolve he performs the action and according to the performance of the action is his destiny– –

The above passage clearly shows that the law of Karma emphasises the importance of conduct. Man is continuously shaping his destiny. Each action has a definite consequence. The universe is ethically balanced. The world will be a chaos with the moral law of Karma. The Karma doctrine did not attain popular acceptance without the influence of its ethical element, i e reward and punishment for merit and elemerit.

We may also note here that the word 'Karma, which meant ritualistic act in the Samhitas and the Brahmanas, now, in the Aranyakas and the Upanisads. receives the meaning of moral act. This appears in the clearest form in the mouth of sage Yajnavalkya who has been its originator (of. op cit., IV 4 4). Man suffers dissolution at his death, but his karma is the cause of a new birth which inherits the good or bad deeds of his former life. This doctrine gives place to a compromise between the Brhadaranyaka and the Chandogya in the form of the theory of five fires. The knower of the pancagni is not aflicted by sin and enjoys the realm of virtues.[1]

1. Ch. Up., V, 10.10.

In the Chandogya Upani sad we find the temporal nature of Karma. The karmas meant for either here or hereafter are of temporal existence. But the knowledge of the self makes the difference. Those who die without the true knowledge of the Self don't get fulfilment But those who go to the other world with the knowledge of the Self and all its true (virtuous) desires get desired place in all the worlds.[1] Here are the seeds of the absolutistic interpretation of the Karma doctrine. Sankara interprets it as life of the people under a king in the former case and that of king himslf in the latter case. In any case the Chandogya, in the context, is en advance towards absolutistic trend.

The explicit recognition to the doctrine of Karma maes the upanisads more concerned for moral life than the Brahm anas. Actual moral precepts, however, are to be met with in a few passages only, e g, in the famous passage of the Taittiriya Upanisad[2] inculcating truthfulness, duty etc., and in the Brhandaranyaka Upanisad[3] preaching self-restraint, generosity and compassion. The Chandogya, in the simili of the lotus leaf, expresses the ethical basis of the upanisadic theory of Karma. It states that as water does not stick to the lotus-leaf, so evil actions do not stick to one who knows this (Self)[4]

An important point to be noted in the upani sadic doctrine of Karma is thet the quality of our life in this and in the other world is determined by the quality of our actions performed in this and

---

1. Chandogya Upani sad, VIII. 1. 6.
2. Taittiriya Upani sad, I 9. 1.
3. Brh. Up., V. 2. 3
4. Chandogya Upanisad, IV. 14. 3.

in the next world. This dcctrine, to be found in the Brh.. Up. (III. 2. 13), Katha Up. (II. 2. 7) and Prasna Up. (III.7), if rightly understood, should provide the strongest incentive to moral efforts. By throwing all responsibilities on the individual it saves him from supernaturalism. It also puts him on guard against vices which yield the harvest of evil here and hsreafter.

It must also be noted that the upanisads teach a two-fold retribution, one in the other world and again in this world. The Brhadaranyaka[1] states that when all extraneous circumstances disappear at death, the sould is left with nothing but a configuration ot the subtle body, and the Karmic traces of the causal body which are the results of his past deeds. This configration determines the place of the soul's residence and its character in the next world. It further states that as a result of the life lived in the other world, there arise further traces in the causai body, leading to its final configuration and when the subtle body ie destroyed in the other world, the causal body called Karma [2] It is this Karma which causes it re-incarnation on this earth This twofold retribution is a natural conseequence of the complex constitution of man. It is not self-contradictory, as thought of Prof. Deussen [3] The seers of the upanisads had the direct intuition of the rrue signicance of Karma. The Mundaka says that by doing the Karmas in right perspective one may get the best.[4] Brhadaranyaka tells us in unambiguos terms that the peson who performs the Kamya Karma gets tee desired results. He goes to the other world to enjoy those results and after exhaustion of the karmas returns to this world But the

---

1. B. U., IV 4 5 2. Ibid., III 2 13

3. Cf Deussen, P., The System of the Vedanta.

4 Murdaka Up., I.2.1

man who is desireless, whose desires are self-fulfi led, attains Brahmanhood.[5] The sequence between the desired and the desireless Karmas make it a spiritual law. The former is a schooling for the latter. Karma is the bond that binds the soul to the world and also a preparation for transcending the world.

In this context it may be added here that there are four kinds of Karma mentioned in the Vedic literature, namely, (i) bright or Sukla,' they are me itorious, (ii) dark cr black which may be called krsna,' they are vicious ones, (iii) br'ght-dark or Sukla-krsna acts which are a mixture of good and evil, and lastly (iv) neither bright nor dark, Asukla-krsna,' they are reither meritorious not vicious It is this kind of Karma which the Bhagavadgıta expounds this kind of Karma which gives liberation because it does net produce virtue or sin, being desireless or passionless

To conclude, we may say that the doctrine of Karma satisfies the demands of the human nature by making him responsible for his deeds. But it is not a mechanical law. Beside the action actor and the result there is the giver of he fruit, the Spirit which Constitutes the indwelling reality ot the doer. Every part of the universe is the dwelling place of the eternal spirit that is working out the destiny. Spiritual fulfilment or moksa is the goal of all this/-movement from desired to desireless Karmas

---

5. B. U IV. 4 6..,